जन संघर्ष मंच हरियाणा द्वारा

जाति प्रश्न पर अभिनव सिन्हा (सम्पादक, 'मज़दूर बिगुल') की द्वन्द्ववाद व ऐतिहासिक भौतिकवाद विरोधी लफ्फाज़ी के जवाब में

साथियो! जन संघर्ष मंच हरियाणा द्वारा 'दलित मुक्ति संघर्ष की क्रांतिकारी दिशा क्या हो!' विषय पर 4 फरवरी 2018 को पटवार भवन कैथल में एक विचारगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें कि हमारी ओर से एक पर्चा बहस के लिए प्रस्तुत किया गया था। 'बिगुल मजदूर दस्ता' के साथी अजय ने इस गोष्ठी में हिस्सा लिया था और एक पर्चा भी वितरित किया था जिसका शीर्षक है 'साम्प्रदायिक फासीवाद को ध्वस्त करो! जनता की फौलादी एकजुटता कायम करो!'। साथी अजय ने हमारे पर्चे की आलोचना में कुछ सवाल भी उठाए थे जिनमें एक तो प्रमुख यह था कि जाति व्यवस्था वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के ऊपरी ढांचे में ही नहीं बल्कि आधार का भी हिस्सा है। इसके अलावा एक दो सवाल उन्होंने और भी उठाए। 'बिगुल मजदूर दस्ता' तथा कुछ अन्य साथियों द्वारा उठाए गए आलोचना के बिन्दुओं को लेते हुए जन संघर्ष मंच हरियाणा की ओर से एक 25 पृष्ठीय पर्चा मंच के प्रदेशाध्यक्ष साथी फूल सिंह के नाम से जारी किया गया था। 'बिगुल मजदूर दस्ता' के साथी अजय, जिन्होंने विचार गोष्ठी में हिस्सा लिया था उनके पास भी यह पर्चा व्हाट्सएप के जरिए भेज दिया गया था और उनकी ओर से इसके लिए धन्यवाद भी आया था। इसके बाद साथी अजय खुद हमारे दफ्तर, शहीद भगत सिंह दिशा संस्थान, कुरुक्षेत्र में मिलने भी आए थे और उन्होंने यह भी कहा था कि हम इसका जवाब देंगे और 'मज़दूर बिगुल' के सम्पादक अभिनव द्वारा हमारे पर्चे के जवाब में 65 पृष्ठीय एक दस्तावेज़, (जिसकी एक प्रति हमें भी दी गयी) व्यापक पैमाने पर सर्कुलेट किया गया। जाति-प्रश्न पर 'बिगुल' वालों की समझ बारे इस 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ के अलावा हमने इनके दो अन्य शोध पेपर भी पढ़े। इनमें से एक 'शोध पेपर' तो खुद अभिनव सिन्हा द्वारा लिखा हुआ है जिसका शीर्षक है 'जाति व्यवस्था-संबंधी इतिहास लेखन: कुल आलोचनात्मक प्रेक्षण' और दूसरा अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम द्वारा लिखा हुआ है जिसका शीर्षक है 'जाति प्रश्न और उसका समाधान: एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण'। ये दोनों 'शोध पेपर' अरविंद स्मृति न्यास द्वारा निकाले गए प्रकाशन 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' में छपे हैं, जिसका प्रथम संस्करण जनवरी 2014 में निकाला गया। इस प्रकाशन में अरविंद स्मृति न्यास के न्यासी मंडल द्वारा दी गयी एक 4 पृष्ठीय प्रकाशकीय टिप्पणी भी छपी है। पाठकों की सुविधा के लिए इन सबका हवाला देना जरूरी समझा गया क्योंकि हम अपने इस जवाब में इन दस्तावेजों के अंशों को अपनी आलोचना का आधार बनाएंगे। पर सबसे पहले हम अभिनव सिन्हा द्वारा हमारे ऊपर लगाए गए इस आरोप को लेंगे कि हमने 'बिगुल' नेतृत्व की अवस्थिति को समझा ही नहीं है और उसे जगह-जगह तोड़-मरोड़ कर पेश किया है। लेकिन असल बात यह है कि इनकी अवस्थिति खुद ही विरोधाभासपूर्ण और उलझी हुई है। 'बिगुल' वाले खुद 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' और 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' का झमेला खड़ा करते हैं। ये कहते हैं कि हमने जाति व्यवस्था को पूंजीवादी बताया है न कि पूंजीवादी व्यवस्था को जातिवादी। आइए, अब इनकी इस अवस्थिति पर विचार करें कि ये दोनों अवस्थिति इनके लेखन मं किस प्रकार गड्ड-मड्ड हुई पड़ी हैं।

'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' अथवा 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था'

अभिनव सिन्हा अपने 65-पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' में 'पूंजीवादी' विशेषण है, जबकि 'जाति व्यवस्था' संज्ञा है। यानी हम आज के दार की जाति व्यवस्था का चरित्र बताते हुए इसे पूंजीवादी जाति व्यवस्था कह रहे है; ठीक उसी प्रकार जैसे हम सामंती दौर की जाति व्यवस्था को सामन्ती जाति प्रथा कहते हैं, या हम सामन्ती दौर की पितृसत्ता को सामन्ती पितृसत्ता और पूंजीवादी दौर की पितृसत्ता को पूंजीवादी पितृसत्ता कहते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर को विशेषण और संज्ञा का अर्थ भी नहीं पता है, और इसीलिए उन्हें एक सामान्य वाक्य का वाक्य विन्यास और सही अर्थ भी समझ नहीं आता है। 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' शब्द समूह में जाति व्यवस्था का मौजूद चरित्र बताया जा रहा है, न कि यह किसी एक उत्पादन व्यवस्था का नाम है। उत्पादन व्यवस्था का नाम पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था ही है और अगर हमें उसके जातिगत चरित्र को दिखलाना होता, तो हम उसे 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' या 'ब्राह्मणवादी पूंजीवादी व्यवस्था' कहते, जिस सूरत में अर्थ यह होता कि मौज्द पूंजीवादी राज्य, उसके तमाम निकाय और उसके अंगो-उपांगों का एक जातिवादी और ब्राह्मणवादी चरित्र है; लेकिन इसका अर्थ भी यह नहीं होगा कि हम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का *पूंजीवादी जाति उत्पादन पद्धति* कह रहे हैं।" (पेज 57/65)

जी हां! आप दो बात कह रहे हैं। एक तो यह कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' एक पूंजीवादी जाति व्यवस्था है और दूसरी यह भी कह रहे हैं कि वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था एक 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' है और इन दोनों अवधारणाओं की ही हमने अपने पहले पर्चे में आलोचना की थी। पहली बात तो यह कि वर्तमान में जाति व्यवस्था के अवशेष ही पूंजीवादी व्यवस्था की अधिरचना में मौजूद हैं न कि स्वयं जाति व्यवस्था। दूसरी बात हमने यह दिखायी थी कि 'बिगुल' वाले वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के मूलाधार में 'जाति व्यवस्था' को प्रवेश करा रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान पृंजीवादी उत्पादन पद्धति जाति व्यवस्था पर आधारित हो जाती है, चाहे जितने भी अंश में हो। इसी को दर्शाने के लिए हमने अपने पहले पर्चे में यह तथ्य भी लिखा था कि विचार गोष्ठी में 'बिगुल' के "साथी अजय ने अपने संगठनों की ओर से एक पर्चा भी विचार गोष्ठी में वितरित किया था, जिसका शीर्षक है 'सांप्रदायिक फासीवाद को ध्वस्त करो! जनता की फौलादी एकजुटता कायम करो!'। इस पर्चे में वर्तमान व्यवस्था के चरित्र बारे पृष्ठ 3 पर लिखा है: **'यह जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था है'।"**

अभिनव सिन्हा ने इस 'जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था' के बारे में भी ऊपर कह दिया कि इससे भी हमारा अभिप्राय वह नहीं है जो हम समझे हैं। यानी ये लोग चाहे 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' शब्द समूह का प्रयोग करें और चाहे 'जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था' शब्द समूह का, दोनों ही शब्द समूहों से पूंजीवादी व्यवस्था के चरित्र पर कोई असर नहीं है। क्योंकि इन सबके बावजूद इनका कहना है कि वर्तमान उत्पादन पद्धति पूंजीवादी उत्पादन पद्धति है। हमने अपने पहले पर्चे में अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम के 'शोध पेपर' से एक और उद्धरण दिया था जिससे इनकी खुद की

अंतर्विरोधी अवस्थिति स्पष्ट उजागर हो जाती है कि ये कितनी चालाकी से पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के मूलाधार में जाति व्यवस्था को प्रवेश भी करा देते हैं और फिर यह दावा भी करते हैं कि वर्तमान उत्पादन पद्धति पूंजोवादी उत्पादन पद्धति है। उद्धरण निम्न प्रकार से है:

"...जाति सामंती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूंजीवाद ने अपने ढांचे के साथ तंतुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूंजीवादी जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) में सावयवी (organic)ढंग से गुंथी-बुनी है तथा वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, जनवरी 2014, पृष्ठ 16-17)

अर्थात् जाति व्यवस्था जिसे ये अब पूंजीवादी जाति व्यवस्था कहते हैं वह पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था के मूलाधार में यानी पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के कुल योग में गुंथ-बुन गयी है यानी पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का एक हिस्सा हो गई है और फिर भी इनका कहना है कि उत्पादन पद्धति पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ही है। अभिनव सिन्हा ने अपने 65-पृष्ठीय दस्तावेज़ में हम पर आरोप लगाते हुए लिखा है कि:

"**उनका कहना है कि मैंने सजातीय विवाह को पूंजीवादी समाज का आधार ठहराया है**। यह मेरे पेपर में कहीं नहीं लिखा है या कहा गया है, जो कहा गया है वह यह है कि जाति व्यवस्था का आधार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति व सामाजिक संरचना में मूलत: और मुख्यत: सजातीय विवाह ही रह गया है, क्योंकि उसके अन्य दो आयाम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से मेल न खाने के कारण क्षीण पड़ गये हैं, हालांकि समाप्त नहीं हुए हैं।" (पृष्ठ-57/65, जोर हमारा)

अभिनव सिन्हा ने हम पर यह आरोप लगाया ह कि हमने अभिनव सिन्हा के बारे में निराधार कहा है कि उन्होंने 'सजातीय विवाह को पूंजीवादी समाज का आधार ठहराया है'। हमने यह बात निराधार नहीं कही है। मार्क्सवाद के अनुसार किसी समाज व्यवस्था का आधार उस व्यवस्था की मंजिल के अनुरूप उत्पादन संबंधों का कुल योग होता है और अभिनव सिन्हा ने सजातीय विवाह (जिसे वे जाति व्यवस्था का एक आयाम बताते है) को वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के कुल योग का अंग बताया है। पाठक स्वयं देखें कि अभिनव सिन्हा नीचे के उद्धरण में सजातीय विवाह को किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के आधार का अंग और उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा बता रहे हैं, वह लिखते हैं:

"अब इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यदि सजातीय विवाह की परम्परा की जांच करें तो वह पूंजीवाद की सेवा करती है और केवल विचारधारात्मक या राजनीतिक अर्थों में नहीं, बल्कि आर्थिक अर्थों में भी। इसलिए जाति व्यवस्था का यह आयाम स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार, यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, का एक अंग है।" (पृष्ठ-31/65)

अभिनव सिन्हा ने स्पष्ट लिखा है कि सजातीय विवाह जाति व्यवस्था का एक आयाम है और पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग का एक अंग है। अब यदि सजातीय विवाह पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार यानी उत्पादन संबंधों के कुल योग का एक अंग है तो इसका अर्थ यह

होता है कि सजातीय विवाह स्वयं एक उत्पादन संबंध है क्योंकि सजातीय विवाह स्वयं में उत्पादन संबंध हुए बिना, उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा हो ही नहीं सकता। और यदि सजातीय विवाह जाति व्यवस्था का एक आयाम है और उत्पादन का एक संबंध है तथा पूंजीवादी आर्थिक आधार का अंग है तो हमने जब यह कहा कि अभिनव सिन्हा ने जाति व्यवस्था को पूंजीवादी समाज का आधार ठहराया है तो क्या गलत कहा? क्या आश्चर्य है कि अभिनव सिन्हा सजातीय विवाह को जाति व्यवस्था का एक आयाम बतायें और फिर उसे एक उत्पादन के संबंध के रूप में पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार यानी उत्पादन संबंधों के कुल योग का एक अंग बतायें और हम यह भी न कहें कि अभिनव सिन्हा ने सजातीय विवाह को पूंजीवादी व्यवस्था का आधार ठहरा दिया!

असल बात यह है कि अभिनव सिन्हा एक बहुत ही बेतुके अन्तरविरोध में फंसे हुए हैं। एक तरफ तो उनका कहना है कि "जाति व्यवस्था स्वयं किसी दौर की, या कोई, उत्पादन पद्धति नहीं है।" (पेज 53/65), दूसरी तरफ वह यह दावा करते हैं कि जाति व्यवस्था विभिन्न समाज व्यवस्थाओं के आर्थिक आधार का अंग होती है। जबकि किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था का आर्थिक आधार उस व्यवस्था की मंजिल के अनुरूप उत्पादन संबंधों का कुल योग ही निर्मित करता है। जब जाति व्यवस्था अभिनव सिन्हा के अनुसार कोई उत्पादन पद्धति ही नहीं है तो फिर इसका मायने यह है कि जाति व्यवस्था के कोई उत्पादन संबंध भी नहीं हैं, और जब जाति व्यवस्था के कोई उत्पादन संबंध ही नहीं हैं तो फिर किसी समाज व्यवस्था के आर्थिक आधार यानी उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा भी कैसे हो सकती है? यही वह विरोधाभास है जिसमें 'बिगुल' वाले बुरी तरह फंसे हुए हैं और आरोप हम पर मढ़ते हैं कि हमें संज्ञा और विशेषण शब्दों की पहचान नहीं है। 'बिगुल' वालों की इस विरोधाभासी अवस्थिति का मूल स्रोत उनकी यह प्रस्थापना है कि जाति व्यवस्था कभी किसी दौर की कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति नहीं रही।

'बिगुल' वालों ने भारत में जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की प्रक्रिया के अध्ययन-विश्लेषण से जाति व्यवस्था की प्रकृति बारे जो निष्कर्ष निकाले हैं वे निष्कर्ष पूर्णतः मार्क्सवाद विरोधो हैं और इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और द्वन्द्ववादी चिंतन प्रणाली की जड़ों को खोद डालने वाले हैं। जाति व्यवस्था के बारे में ऐतिहासिक भौतिकवाद की जड़ों पर प्रहार करने वाले इनके सबसे खतरनाक निष्कर्ष यह है कि, "जाति व्यवस्था स्वयं किसी दौर की, या कोइ, उत्पादन पद्धति नहीं है।"; कि, "जाति व्यवस्था पूंजीवाद या सामन्तवाद के समान कोई अलग उत्पादन व्यवस्था नहीं बल्कि वर्गों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया में एक निश्चित मंजिल पर आयी सामाजिक-आर्थिक संरचना है, जिसे अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित करती रही हैं।" (पेज 41/65) अतः इनके निष्कर्ष के अनुसार जाति व्यवस्था कभी भी, किसी भी दौर की कोई विशिष्ट उत्पादन व्यवस्था अथवा उत्पादन पद्धति नहीं रही; जाति व्यवस्था वर्गों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया में एक निश्चित मंजिल पर आयी, दूसरे शब्दों में जाति व्यवस्था के जन्म लेने की परिघटना वर्गों के जन्म लेने की परिघटना पर आधारित तो है पर वर्गों और जातियों के जन्म लेने की परिघटनाएं दो भिन्न परिघटनाएं हैं यानी जाति और वर्ग एक ही चीज नहीं है, वर्ग जाति नहीं और जाति वर्ग नहीं। इनके अनुसार जाति व्यवस्था किसी समाज व्यवस्था की वर्ग संरचना नहीं है बल्कि वह एक

ऐसी 'सामाजिक-आर्थिक संरचना' है जिसे हर शासक वर्ग अथवा अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां अपने हितों के अनुसार सहयोजित और समायोजित करती आयी हैं।

1.

अभिनव सिन्हा कहते हैं कि जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है

पर यह स्वयं किसी दौर की, या कोई, उत्पादन पद्धति नहीं रही

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था पूंजीवाद या सामन्तवाद के समान कोई अलग उत्पादन व्यवस्था नहीं बल्कि वर्गों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया में एक निश्चित मंजिल पर आयी सामाजिक-आर्थिक संरचना है, जिसे अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित करती रही हैं।" (पेज 41/65)

ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से यह एकदम निरर्थक और कोरी बकवास है कि जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है जिसे अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित करती रही हैं। अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था को एक सामाजिक-आर्थिक संरचना बताते है और साथ में इस बात की रट लगाते हैं कि जाति व्यवस्था कोई विशिष्ट उत्पादन प्रणाली नहीं है, जबकि सामाजिक-आर्थिक संरचना कहते ही किसी विशिष्ट उत्पादन प्रणाली को हैं। लेनिन की संकलित रचनाएं जो दस खंडों में छपी हैं उन सभी खंडों के अंत में कुछ चुनिंदा पारिभाषिक शब्द दिए गए हैं। जिनमें सामाजिक-आर्थिक संरचना की अवधारणा भी व्याख्यायित है जो पूरी तरह से मार्क्सवाद पर आधारित है, जो निम्न प्रकार से है:

"**सामाजिक-आर्थिक संरचना** (Social and economic formation)- इतिहास के किसी एक खास दौर में उपलब्ध समाज का रूपभेद, जिसका आधार वे उत्पादन संबंध तथा उत्पादक शक्तियां होती हैं, जो उस समाज के सामाजिक, राजनीतिक तथा वैचारिक स्वरूप का निर्धारण करती हैं। हर सामाजिक-आर्थिक विरचना 'एक विशिष्ट सामाजिक संघटन है' जिसके पैदा होने, काम करने और उच्चतर रूप में **संक्रमण करने**, यानी दूसरे सामाजिक संघटन में बदलने के अपने विशिष्ट नियम होते हैं' (व्ला.इ.लेनिन)। समाजवाद के युग तक मानव समाज क्रमशः चार सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं से गुजरा है: आदिम सामुदायिक, दासप्रथात्मक, सामंतवादी और पूंजीवादी। मार्क्स और एंगेल्स ने, जिन्होंने सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं से संबंधित सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, सिद्ध किया कि पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक विरचना का स्थान कम्युनिस्ट सामाजिक-आर्थिक विरचना द्वारा, जिसकी पहली अवस्था समाजवाद है, लिया जाना अवश्यंभावी है।" (खण्ड-1, पृष्ठ 548 -549)

मार्क्स ने किसी विशिष्ट उत्पादन प्रणाली को ही सामाजिक-आर्थिक संरचना बताया है, वे लिखते हैं:

"...मोटे तौर से एशियाई, प्राचीन, सामंती एवं आधुनिक, पूंजीवादी उत्पादन प्रणालियां समाज की आर्थिक संरचना के अनुक्रमिक युग कही जा सकती हैं। पूंजीवादी उत्पादन संबंध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के

अंतिम विरोधी रूप हैं-..." (*राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास* की भूमिका, संकलित रचनाएं, खंड 1, भाग 2, पृष्ठ 268)

मार्क्स *पूंजी* में एक जगह और लिखते हैं: "समाज के अत्यंत भिन्न प्रकार के आर्थिक रूपों में केवल साधारण पुनरुत्पादन ही नहीं, बल्कि अलग-अलग मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होता है।" (खंड-1, अध्याय 25, अनुभाग 2, पृष्ठ 630)

अत: मार्क्स के अनुसार कोई विशिष्ट उत्पादन प्रणाली, समाज का कोई विशिष्ट आर्थिक रूप अथवा विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया ही सामाजिक-आर्थिक संरचना हो सकती है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि यदि कोई 'व्यवस्था' विशिष्ट उत्पादन प्रणाली ही नहीं है तो उस व्यवस्था को सामाजिक-आर्थिक संरचना का नाम देना गैर-मार्क्सवादी समझ का सबूत माना जाएगा। मार्क्स ने ऊपर जिन सामाजिक आर्थिक संरचनाओं के नाम गिनाए हैं यानी एशियाई, प्राचीन, सामंती एवं आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन प्रणालियां, ये सब की सब समाज के विशिष्ट आर्थिक रूप अथवा विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं हैं। अब सवाल यह है कि जब अभिनव सिन्हा कहते हैं कि जाति व्यवस्था कभी कोई विशिष्ट उत्पादन प्रणाली रही ही नहीं तो फिर वह जाति व्यवस्था को सामाजिक-आर्थिक संरचना किस आधार पर कह रहे हैं? क्या अभिनव सिन्हा पूरे मार्क्सवादी साहित्य में कहीं भी यह दिखा सकते हैं कि कोई सामाजिक-आर्थिक संरचना खुद एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति हुए बिना मात्र हवा में लटकी सामाजिक-आर्थिक संरचना हो? जब अभिनव सिन्हा यह कहते हैं कि जाति व्यवस्था स्वयं कभी कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति नहीं रहीं तो इसका अर्थ यह है कि जाति व्यवस्था स्वयं कभी कोई विशिष्ट भौतिक प्रक्रिया ही नहीं रही। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक विशिष्ट भौतिक प्रक्रिया का एक विशिष्ट प्रधान अन्तरविरोध होता है।

प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक संरचना का अपना विशिष्ट प्रधान अंतरविरोध होता है: मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक संरचना क्योंकि एक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली होती है इसलिए प्रत्येक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का अपना एक विशिष्ट प्रधान अंतरविरोध होता है। मार्क्स की रचना से ऊपर दिए गए उद्धरण में गिनाई गई सभी विशिष्ट उत्पादन प्रणालियों का अपना-अपना प्रधान अंतर्विरोध है और इस प्रधान अंतर्विरोध के आधार पर ही प्रत्येक उत्पादन प्रणाली अथवा सामाजिक-आर्थिक संरचना की अपनी-अपनी विशिष्टता है। दास-स्वामी वाली सामाजिक-आर्थिक संरचना का अपना एक विशिष्ट प्रधान अंतर्विरोध है, उसी प्रकार सामंतवादी और पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं का। अब अभिनव सिन्हा के सामने प्रश्न यह है कि जाति व्यवस्था विशिष्ट उत्पादन प्रणाली न होकर भी यदि एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है तो इस सामाजिक-आर्थिक संरचना का प्रधान अंतर्विरोध क्या है? अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था को एक सामाजिक-आर्थिक संरचना तो बताते हैं पर इस सामाजिक-आर्थिक संरचना के प्रधान अंतर्विरोध को गोल कर जाते हैं और इसकी जगह वह इसके तीन आयामों की रट लगाते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जाति व्यवस्था का कोई प्रधान अंतरविरोध है ही नहीं तो फिर जातियों के बीच अन्तरविरोध होना भी मुमकिन नहीं। और इस प्रकार हम एक नतीजे पर पहुंच जाते हैं जो ऐतिहासिक सत्यों से परे है।

अभिनव सिन्हा कहते हैं कि जाति व्यवस्था का एक आयाम आनुवांशिक श्रम-विभाजन है, पर यह कोई विशिष्ट उत्पादन प्रणाली नहीं है

अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के तीन 'आयामों' की गिनती बताते हुए अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसके ऐतिहासिक तौर पर तीन बुनियादी आयाम हैं, जो कि इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अस्तित्व में आये, विकसित हुए और उनमें से कुछ आयाम बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ ही खत्म हुए या खत्म होने की ओर अग्रसर हुए; **ये तीन आयाम हैं आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता**। इनमें से दो आयाम, यानी आनुवांशिक श्रम विभाजन और सजातीय विवाह समाज में मौजूद सम्पत्ति सम्बन्धों व श्रम विभाजन की सरंचना को प्रभावित करते हैं और एक दौर में उन्हें काफी हद तक निर्धारित करते थे।" (पृष्ठ 28-29/65, जोर हमारा)

अपने 'शोध कार्य' के जरिए इस प्रकार के विरोधाभासी निष्कर्ष कि जाति व्यवस्था स्वयं में कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी पर यह 'तीन आयामों' पर खड़ी थी जिनमें एक आयाम आनुवांशिक श्रम विभाजन भी है। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद व द्वन्द्ववाद के ककहरे से कोरे किसी मस्तिष्क की ही उपज हो सकती है। क्या अभिनव सिन्हा इतना भी नहीं जानते कि आनुवांशिक श्रम-विभाजन जिसे वे जाति व्यवस्था का एक आयाम बतलाते हैं यह एक ही आयाम स्वयं में एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति का आधार होता है। कितना बड़ा विरोधाभास है कि एक तरफ तो अभिनव सिन्हा कह रहे हैं कि जाति व्यवस्था स्वयं में कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी और दूसरी तरफ उनका कहना है कि जाति व्यवस्था के 'तीन आयामों' में से एक आयाम आनुवांशिक श्रम विभाजन है, जबकि आनुवांशिक श्रम विभाजन खुद एक उत्पादन पद्धति का द्योतक और उसका आधार होता है। देखें कार्ल मार्क्स क्या कहते हैं:

"...**श्रम-विभाजन उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली है** जिसका स्वयंस्फूर्त ढंग से विकास हुआ है और यह विकास उत्पादकों के पीठ पीछे अब भी जारी है।" (पूंजी, खंड 1, अध्याय 3, अनुभाग 2, पृष्ठ 125, संस्करण 1987, जोर हमारा)

मार्क्स के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्रम विभाजन स्वयं उत्पादन की एक प्रणाली होती है। क्या अभिनव सिन्हा कार्ल मार्क्स द्वारा बतायी गई ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस बुनियादी शिक्षा का उल्लंघन करते हुए यह कह सकते हैं कि जाति व्यवस्था के तीन आयामों में से एक आयाम आनुवांशिक श्रम विभाजन है, पर जाति व्यवस्था स्वयं में कोई उत्पादन प्रणाली नहीं है? दूसरी बात यह कि जब कार्ल मार्क्स खुद यह लिख रहे हैं कि श्रम विभाजन उत्पादन की प्रणाली होती है तो इसका मायने यह है कि किसी भी विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का आधारभूत स्तंभ श्रम विभाजन होता है और उसके बाकि पहलू या आयाम इसी आधार स्तंभ पर आधारित और उसकी उपज होते हैं। इसलिए जब अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के तीन आयाम गिनवाते हैं तो वह यह कहीं नहीं बताते कि उन तीनों में आधारस्तंभ कौन-सा है। लेकिन मार्क्स ने

आनुवांशिक अथवा पुश्तैनी श्रम विभाजन को ही भारत में जाति-व्यवस्था का आधार बताया है, जिस पर वह खड़ी है। देखें मार्क्स क्या लिखत हैं:

"रेल व्यवस्था से उत्पन्न होकर आधुनिक उद्योग **पुश्तैनी श्रम विभाजन** को ख़तम कर देगा, **जिस पर भारत की जात-पांत व्यवस्था खड़ी है** और जो भारत की उन्नति तथा शक्ति के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट है।" (*भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम*, जोर हमारा)

लेकिन अभिनव सिन्हा कहते हैं कि आनुवांशिक श्रम विभाजन जाति व्यवस्था के 'तीन आयामों' में से एक आयाम तो है पर जाति व्यवस्था स्वयं में कभी कोई उत्पादन प्रणाली नहीं रही। क्या अभिनव सिन्हा इस बात का सीधा-सीधा जवाब देंगें कि मार्क्स ने भारत की जात-पांत की व्यवस्था को महज एक 'आयाम' यानी पुश्तैनी श्रम विभाजन पर क्यों खड़ी बता दिया? क्योंकि किसी विशिष्ट उत्पादन प्रणाली की अभिव्यक्ति का यही ऐतिहासिक भौतिकवादी और द्वन्द्ववादी ढंग है। श्रम विभाजन विभिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं की एक समान विशेषता है, लेकिन विभिन्न प्रकार की विशिष्ट आर्थिक व्यवस्थाएं किसी विशिष्ट प्रकार के श्रम विभाजन पर आधारित होती हैं। मार्क्स लिखते हैं:

"मोटे तौर पर समाज में श्रम-विभाजन का होना—चाहे वह पण्यों के विनिमय का फल हो या न हो—समाज की अत्यंत भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं की एक समान विशेषता है। परन्तु वर्कशॉप का श्रम-विभाजन, जैसा कि मैन्यूफ़ैक्चर में होता है, केवल उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की ही विशिष्ट उपज है।" (पूंजी, खंड 1, अध्याय 14, अनुभाग-4, पृष्ठ 384)

अत: जब भी आप किसी व्यवस्था के चारित्रिक लक्षणों में यदि श्रम विभाजन को एक पहलू अथवा आयाम के रूप में गिनाते हो जैसे कि अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के तीन आयामों में आनुवांशिक श्रम विभाजन को गिनाते हैं तो यह आनुवांशिक श्रम विभाजन का आयाम अकेले ही जाति व्यवस्था को एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के रूप में परिभाषित कर देता है। आनुवांशिक श्रम विभाजन अपने आप में श्रम विभाजन का एक विशिष्ट रूप है और इसीलिए श्रम-विभाजन के इस विशिष्ट रूप पर आधारित सामाजिक-आर्थिक संरचना एक विशिष्ट आर्थिक संरचना यानी एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति का बोध कराती है और इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जाति व्यवस्था एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति रही है।

भारत में श्रम-विभाजन के आदिकालीन रूप से जात-पांत की व्यवस्था के उद्‌भव बारे मार्क्स लिखते हैं कि:

"...जब वह आदिकालीन रूप, जिसमें श्रम-विभाजन भारतीयों तथा मिस्रवासियों के बीच प्रकट होता है, उनके राज्य तथा धर्म में जांत-पांत व्यवस्था को जन्म देता है, तो इतिहासकार यह विश्वास कर बैठता है कि जांत-पांत व्यवस्था ही वह शक्ति है जिसने इस आदिकालीन सामाजिक रूप को जन्म दिया है।" (*जर्मन विचारधारा*, प्रथम अध्याय, अनुभाग 8 से)

अत: जिस श्रम विभाजन ने भारत में एक विशिष्ट प्रकार की जात-पांत व्यवस्था को जन्म दिया था वह श्रम विभाजन भी एक विशिष्ट स्तर और विशिष्ट रूप का श्रम विभाजन था। दूसरे शब्दों में उस विशिष्ट श्रम विभाजन के खात्मे के साथ ही जाति व्यवस्था की नियति भी जुड़ी हुई थी। कार्ल मार्क्स ने जात-पांत की व्यवस्था के श्रम विभाजन बारे दिखाया है कि वह शिल्प-संघों की प्रणाली और मैनुफैक्चर व्यवस्था के श्रम विभाजन की भांति ही एक विशिष्ट श्रम विभाजन था। देखें, मार्क्स लिखते हैं:

"...**श्रम-विभाजन** श्री प्रूदों के लिए बड़ी सरल सी चीज़ है। लेकिन क्या जात-पांत व्यवस्था श्रम-विभाजन नहीं थी? क्या शिल्प-संघों की प्रणाली श्रम-विभाजन का एक और रूप नहीं थी? और क्या मैनुफैक्चर व्यवस्था के अंतर्गत श्रम-विभाजन भी, जिसका इंग्लैंड में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में सूत्रपात हुआ और अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में अंत हुआ, बड़े पैमाने के आधुनिक उद्याग के अंतर्गत श्रम-विभाजन से सर्वथा भिन्न नहीं था?" (आन्नेन्कोव को मार्क्स के पत्र से, 28 दिंसबर1846, रेखांकन जोड़ा गया)

अत: जिस प्रकार शिल्प संघों की प्रणाली श्रम-विभाजन का एक विशिष्ट रूप थी और जिस प्रकार मैनुफैक्चर व्यवस्था के अंतर्गत श्रम विभाजन भी एक विशिष्ट प्रकार का श्रम विभाजन था ठीक उसी प्रकार भारत की जाति व्यवस्था भी एक विशिष्ट प्रकार के श्रम विभाजन पर टिकी हुई थी और श्रम विभाजन के उस विशिष्ट रूप के खात्मे के साथ जाति व्यवस्था के खात्मे का सवाल जुड़ा हुआ था। मार्क्स ने अपने इसी पत्र में और स्पष्ट किया कि कोई भी विशिष्ट समाज व्यवस्था जिसमें मनुष्य विशिष्ट प्रकार से उत्पादन, उपभोग एवं विनिमय करते हैं वह विशिष्ट समाज व्यवस्था अनित्य और ऐतिहासिक होती है अर्थात् उसका आरंभ और उसका अंत होता है और उसके स्थान पर दूसरा विशिष्ट रूप अस्तित्व में आ जाता है। भारत की जाति व्यवस्था भी उत्पादन, उपभोग और विनिमय का एक विशिष्ट आर्थिक रूप था और उस विशिष्ट रूप का अंत भी निश्चित था। मार्क्स लिखते हैं:

"...इसीलिए दो विद्युत् विस्फोट हुए–1640 और 1688 की क्रांतियां हुईं। इंग्लैंड में सभी पुराने आर्थिक रूप, उनसे मेल खाने वाले सामाजिक सम्बन्ध, राजनीतिक प्रणाली जो पुराने नागरिक समाज की आधिकारिक अभिव्यक्ति थी–ये सभी नष्ट हो गए। इस प्रकार वे आर्थिक रूप जिनमें मनुष्य उत्पादन, उपभोग एवं विनिमय करते हैं, **अनित्य और ऐतिहासिक** हैं। नई उत्पादक शक्तियां प्राप्त करने के साथ मनुष्य अपनी उत्पादन पद्धति बदल डालते हैं और उत्पादन पद्धति के साथ वे उन सारे आर्थिक सम्बन्धों को बदल डालते हैं जो उस ख़ास उत्पादन पद्धति के आवश्यक सम्बन्ध मात्र थे।" (आन्नेन्कोव को मार्क्स के पत्र से, 28 दिंसबर1846)

अभिनव सिन्हा को बता दें कि जाति व्यवस्था किस दौर को उत्पादन पद्धति थी

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में लिखते हैं:

"दूसरी बात, जिसे हम यहां फिर से दुहराना चाहेंगे वह यह कि जाति व्यवस्था अपने आपमें कोई उत्पादन पद्धति नहीं है। इसलिए वह किसी भी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती, सिवाय उस दौर क जब कि वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे। यह आर्थिक आधार का एक अंग हो सकती है। " (पेज 40/65)

अभिनव सिन्हा बार-बार दोहरा रहे हैं कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं है। और जब यह कोई उत्पादन पद्धति ही नहीं है तो जाति आधार पर कभी काई उत्पादन सम्बन्ध भी नहीं रहे हैं। और जब जाति व्यवस्था न तो खुद कोई उत्पादन पद्धति है, न ही जाति आधारित कोई उत्पादन संबंध रहे हैं तो फिर प्रश्न यह है कि जाति व्यवस्था किस आधार पर किसी भी समाज व्यवस्था का पूर्ण अथवा आंशिक आर्थिक आधार हो सकती है? क्या यह वैज्ञानिक दृष्टि का सबूत है जब अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि जाति व्यवस्था किसी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती फिर लिखते हैं सिवाय उस दौर के जब वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे, फिर आगे लिखते हैं कि यह आर्थिक आधार का एक अंग हो सकती है? असल बात यह है कि अभिनव सिन्हा जाति और वर्ग को अलग-अलग देखते हैं जबकि एशियायी उत्पादन प्रणाली में जाति ही वर्ग थी। अभिनव सिन्हा स्वीकारते हैं कि एक दौर था जब जाति व्यवस्था समाज के पूर्ण आर्थिक आधार का काम करती थी। लेकिन साथ ही साथ इसके विपरीत बात कहते हैं कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी। सवाल है कि जब जाति व्यवस्था एक दौर में पूर्ण आर्थिक आधार थी तो क्या इसका अर्थ केवल यही नहीं होता कि जाति व्यवस्था स्वयं एक दौर की आनुवांशिक श्रम विभाजन पर आधारित एक उत्पादन पद्धति थी? अब प्रश्न है कि वह दौर कौन-सा था जब जाति व्यवस्था भारतीय समाज का पूर्ण आर्थिक आधार थी यानी खुद एक उत्पादन प्रणाली थी? मार्क्स लिखते हैं:

"...हिन्दुस्तान के अतीत का राजनीतिक पहलू कितना ही परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, उसकी सामाजिक स्थिति **अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी की पहली दशाब्दी तक** स्थायी रही। करघा और चरख़ा इस सामाजिक ढांचे की धुरी थे, जिनसे निरंतर असंख्य बुनकर तथा सूत कातने वाले पैदा होते रहते थे। पुरातन काल से यूरोप हिन्दुस्तानी बुनकरों के तैयार किए हुए बेहतरीन कपड़े मंगवाता रहा और बदले में अपनी मूल्यवान धातुएं भेजता रहा, जो सुनार के पास पहुंचती रहीं।..अंग्रेज विजेता ने आकर हिन्दुस्तान के करघे को तोड़ा और चरख़े को तबाह किया।" (भारत में ब्रिटिश राज, 10 जून 1853, संकलित रचनाएं, खंड 1, भाग 2, पृष्ठ 249, जोर हमारा)

कार्ल मार्क्स ने अति प्राचीन काल से सन् 1810 तक की भारतीय उत्पादन प्रणाली को एक ही प्रणाली के रूप में यहां व्याख्या की है। यानी प्राक्-सामंती काल और सामंती काल दोनों ही दौर एक ही उत्पादन प्रणाली के काल हैं। प्राक्-सामंती काल और सामंती काल के उत्पादन प्रणालियों और उत्पादन संबंधों में कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं है। अभिनव सिन्हा भी अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं कि "इतना स्पष्ट है कि गुप्त काल से पहले ही, जो कि भारतीय इतिहास में सामंती उत्पादन सम्बन्धों की शुरुआत का दौर है, वर्ण-जाति व्यवस्था के तीन मूल आयाम पैदा हो चुक थे: आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता तथा खान-पान सम्बन्धी पूर्वाग्रह।" (पेज 24/65)। अब आनुवांशिक श्रम विभाजन आदि जाति व्यवस्था के सभी आयाम प्राक्-सामंती दौर में पैदा हो चुके थे और अभिनव सिन्हा के अनुसार यदि वही आयाम प्राक्-सामंती और सामंती दौर की यानी प्राचीन और मध्यकालीन उत्पादन प्रणालियों के पूर्ण आर्थिक आधार थे तो फिर सामंती दौर से प्राक्-सामंती दौर की कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं रह जाती। क्योंकि प्राक्-सामंती और सामंती दोनों ही दौरों में श्रम-विभाजन का विशिष्ट रूप जातिगत आधार पर

आनुवांशिक श्रम-विभाजन का ही रूप रहता है। पहले दौर में श्रम-विभाजन के इस विशिष्ट रूप का उद्‌भव और विकास हुआ, जिसकी निरंतरता दूसरे यानी सामंती दौर में ज्यों की त्यों बनी रही।

अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम भी प्राक्-सामंती और सामंती दौर के श्रम विभाजन में कोई भेद नहीं देखती है। शोध टीम लिखती है:

"...पहली बात यह कि **प्राचीन और मध्यकालीन भारत में श्रम-विभाजन जातिगत ही था**, यूँ कहें कि श्रम विभाजन ने ही जाति को जन्म दिया और जाति वर्ग के समकक्ष थी। औपनिवेशिक काल में यह स्थिति टूटी। पूंजीवादी विकास के दौर में और तेजी से टूटी। पूंजीवादी श्रम-विभाजन ने जो वर्गीय संरचना पैदा की उसमें **पुरानी जाति संरचना** के प्रबल तत्व थे, पर दोनों अब समानार्थी नहीं रह गए थे।..." (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ-83, जोर हमारा)

शाध टीम के इस उद्धरण से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जाति व्यवस्था एक उत्पादन पद्धति थी क्योंकि श्रम-विभाजन जातिगत था और श्रम विभाजन ने ही जाति को जन्म दिया था। इनके अनुसार इस दौर में जाति वर्ग के समकक्ष और समानार्थी थी। दूसरी बात यह कि "पूंजीवादी श्रम-विभाजन ने जो वर्गीय संरचना पैदा की उसमें पुरानी जाति संरचना के प्रबल तत्व थे, पर दोनों अब समानार्थी नहीं रह गए थे" यहां शोध टीम 'पुरानी जाति संरचना' की बात करती है। सवाल है कि क्या 'जाति संरचना' अवधारणा की बात की जा सकती है यदि जाति खुद वर्ग न हो? और क्या 'जाति संरचना' की बात की जा सकती है यदि जाति व्यवस्था खुद एक उत्पादन पद्धति न हो?

द्रविड़ प्राणायाम करने की किसी को कोई जरूरत नहीं

अभिनव सिन्हा एक और बात उठाते हैं, वह लिखते हैं: "तीसरी बात यह, कि जाति व्यवस्था अपने आप में सामंती उत्पादन संबंध नहीं हैं और इसीलिए वह सामंती अवशेष भी नहीं हैं; जो ऐसा मानते हैं उन्हें इस बात की व्याख्या करने के लिए द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ेगा कि सामंती उत्पादन पद्धति के प्रादुर्भाव से पहले जाति व्यवस्था क्या थी? और प्रादुर्भाव होने के बाद वह क्या बन गयी?" (पेज 40/65)

अभिनव सिन्हा द्वारा किया गया यह सवाल स्पष्ट तौर पर यह दर्शाता है कि वह वस्तुओं और प्रक्रियाओं में मात्रात्मक और गुणात्मक भेद को नहीं समझते। जब वह खुद ही कहते हैं कि जाति व्यवस्था के तीनों आयाम प्राक्-सामंती दौर में अस्तित्व में आ चुके थे फिर इस प्रश्न का आधार ही क्या रह जाता है। यदि प्राक्-सामंती दौर में और सामंती दौर (प्राचीन और मध्यकालीन भारत) में श्रम विभाजन आनुवांशिक और जातिगत आधार पर ही था तो फिर प्राक्-सामंती दौर की और सामंती दौर की जाति व्यवस्थाओं में गुणात्मक भिन्नता क्या बची? और द्रविड़ प्राणायाम करने की कौन-सी जरूरत पड़ गयी?

जाति ही वर्ग थी और जाति व्यवस्था एक दौर की विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी

अब अभिनव सिन्हा को यह बात समझाने के लिए कि जाति ही वर्ग थी और जाति व्यवस्था प्राचीन और मध्यकालीन भारत की उत्पादन पद्धति थी, हम यहां अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम के 'शोध पेपर' से एक उद्धरण को फिर प्रस्तुत करना चाहेंगे। जो इस प्रकार है:

"...हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतंत्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे पूंजीवादी विकास की संभावनाएं मौजूद थीं जो **जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं** क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 32-33, जोर हमारा)

शोध टीम के अनुसार भारत का औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में जाति व्यवस्था सामंतवाद के गर्भ से जन्म लेने वाले एक क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग द्वारा ध्वस्त की जा सकती थी। और यदि ऐसा होता, जिसकी संभावना मौजूद थी, तो फिर यही प्रमाणित होता कि जाति व्यवस्था सामंतवाद की समानार्थी ही नहीं बल्कि खुद सामंतवाद थी। और आज जाति व्यवस्था के जो अवशेष बचे हुए हैं उन्हें इसीलिए सामंती अवशेष कहा जाता है।

जब अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में यह लिखते हैं कि:

"जाति व्यवस्था न तो अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति है और न ही यह सामंती उत्पादन पद्धति का समानार्थी है। इसलिए यह कहना कि पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करना वैसा ही है जैसा कि पूंजीवादी सामंती व्यवस्था के बारे में बात करना, परले दर्जे की नासमझी है।" (पेज 28/65)

तो यह 'परले दर्जे की नासमझी' उन्हीं के हिस्से में आती है। क्योंकि जब प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की उत्पादन प्रणाली का आधार आनुवांशिक और जातिगत श्रम विभाजन था और यदि इस श्रम विभाजन पर आधारित मध्ययुगीन भारत की सामंती उत्पादन पद्धति के ध्वस्तीकरण के साथ ही जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाती तो पूंजीवादी जाति व्यवस्था कहने तक के लिए कोई आधार ही न बचता। अभिनव सिन्हा एक जगह और कहते हैं कि:

"जाति व्यवस्था अपने आपमें कोई उत्पादन पद्धति नहीं है और न ही वह सामंती उत्पादन पद्धति की समानार्थी है; वह सामन्ती उत्पादन पद्धति के अस्तित्व में आने से पहले ही अस्तित्व में आ चुकी थी; इसलिए पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात वैसी ही की जा सकती है जैसे कि पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा की बात की जा सकती है;" (पेज 30/65)

पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा के आधार पर अभिनव सिन्हा पूंजीवादी जाति व्यवस्था की अपनी हठ को सिद्ध करना चाहते हैं। जबकि दास प्रथा एक उत्पादन पद्धति थी और दास श्रम उत्पादन सम्बन्ध था। इसलिए आधुनिक दास प्रथा, दास श्रम के उत्पादन सम्बन्ध के आधार पर ही कही जाती है पर जहां तक जाति व्यवस्था का प्रश्न है अभिनव सिन्हा न तो उसे अतीत की कोई उत्पादन पद्धति मानने को तैयार हैं; और न ही वह यह मानते हैं कि जाति व्यवस्था के अपने कोई उत्पादन सम्बन्ध होते हैं; और सबसे बड़ी बात यह

कि वह यही नहीं मानते कि जाति अतीत में कभी वर्ग भी थी। इन सबके बावजूद भी वह वर्तमान में जाति व्यवस्था के अवशेषों को पूंजीवादी जाति व्यवस्था सिद्ध करने पर तुले हैं, जिसका आधार वह दास श्रम को बनाते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि दास-श्रम एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति का आधार था, जिसमें दास और दास-स्वामी विशिष्ट वर्ग थे। अभिनव सिन्हा के अनुसार जाति खुद कभी वर्ग नहीं थी, पर वह यह तो जानते होंगे कि दास तो वर्ग व्यवस्था में एक वर्ग था। दो चीजों के बीच तुलना की न्यूनतम आवश्यकता को भी अभिनव सिन्हा नहीं समझ सके हैं।

अत: ऊपर की गयी सारी चर्चा से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि जाति व्यवस्था आनुवांशिक श्रम विभाजन पर आधारित एक विशेष दौर की यानी प्राचीन काल से औपनिवेशिक काल तक की एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी जिसकी उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रकार के जाति आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन के आधार पर हुई थी।

प्रसंगवश औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति बारे:

हमने अपने पहले 25 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखा था:

"...यहां यह भी स्पष्ट किया जाना उचित होगा कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के दौरान भारत की ब्राह्मणवादी-जातिवादी व्यवस्था को जो भी चोटें लगी उसके पीछे ब्रिटिश शासकों की देश के दलितों की भलाई या मुक्ति की कोई भावना काम नहीं कर रही थी बल्कि औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली की खुद की यह जरूरत थी।"

अभिनव सिन्हा ने हमारे द्वारा कही गयी 'औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली' की अवधारणा का मजाक उड़ाते हुए लिखा है:

"तीसरी बात, जो उपरोक्त उद्धरण में श्यामसुन्दर की विलक्षण जड़मतित्व को दिखलाती है वह है *औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली* की बात। यह क्या होती है? मतलब, सामंती उत्पादन प्रणाली होती है, एक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली होती है, और उसी प्रकार एक औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली भी होती है? इसकी क्या खासियत होती है? मार्क्स ने बताया है कि एक उत्पादन प्रणाली को दूसरो उत्पादन प्रणाली से इस आधार पर अलग किया जाता है कि उनमें अधिशेष विनियोजन की पद्धति (mode of surplus extraction) अलग होती है। सामंतवाद के दौर में सामंती भूमि लगान व आर्थिकेतर उत्पीड़न के आधार पर आर्थिक अधिशेष का विनियोजन होता है, जिसके ठोस रूप भूदासत्व व बंधुआ श्रम के रूप में सामने आते हैं। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में यह श्रम-पूंजी के सम्बन्धों के आधार पर होता है, जिसके मूल में श्रम शक्ति का माल बनना और उत्पादन के साधन के मालिकाने का पूंजीपति वर्ग के हाथों में सीमित हो जाना होता है; इसी को मार्क्स ने उजरत का संबंध (wage-relation) और पूंजी सम्बन्ध (capital-relation) कहा है। लेकिन औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली में क्या होता है? यहां आर्थिक अधिशेष विनियोजन की वह कौन सी पद्धति होती है जिसके आधार पर इसे अन्य उत्पादन प्रणालियों से अलग किया जा सकता है? सच्चाई यह है कि औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली जैसी कोई चीज नहीं होती।..." (पृष्ठ 11-12/65)

सामंती उत्पादन सम्बन्धों पर आधारित उत्पादन प्रणाली में शासक वर्ग सामंतो वर्ग होता है यानी सामंती वर्ग द्वारा दमन और उत्पीड़न के तहत सामंती वर्ग के हितों में उत्पादन की सामंती प्रणाली चलती है। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों पर आधारित उत्पादन प्रणाली, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली कहलाती है आर इस प्रणाली में शासक वर्ग पूंजीपति वर्ग होता है। लेकिन जिस उत्पादन प्रणाली में मानव द्वारा मानव का शोषण सामंती उत्पादन प्रणाली से भी हो और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से भी और इस प्रकार की उत्पादन पद्धति में शासक वर्ग न तो सामंती वर्ग हो और न ही राष्ट्रोय पूंजीपति वर्ग हो बल्कि इन दोनों से ही अलग औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग हो तो हमने इस प्रकार की उत्पादन पद्धति को ही औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति कहा है। उत्पादन की इस पद्धति में सिर्फ मानव द्वारा मानव का शोषण-उत्पीड़न ही नहीं बल्कि एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण-उत्पीड़न भी है। इस उत्पादन पद्धति में राज्य का चरित्र औपनिवेशिक वर्ग चरित्र होता है। औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति में किसानों का जिस सामंती उत्पादन पद्धति के जरिए खून निचोड़ा जाता है उस सामंती पद्धति का नियंत्रण पूंजी की सत्ता के अधीन होता है न कि सामंती सत्ता के। क्या इसमें एक विरोधाभास नजर नहीं आता है कि पूंजी द्वारा किसानों का शोषण सामंती पद्धति के जरिए किया जाए? इस विरोधाभास का एकमात्र हल यही है कि हम औपनिवेशिक वर्ग के राज्य और शासन के तहत स्थापित होने वाली उत्पादन पद्धति को सामंती अथवा पूंजीवादी उत्पादन पद्धति न कहकर औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति कहें, जिसमें उत्पादन के तमाम साधनों का नियंत्रण भी औपनिवेशिक वर्ग के हाथों में होता है।

मार्क्स लिखते हैं:

"उत्पादन का सामाजिक रूप कोई भी हो, श्रमिक और उत्पादन साधन हमेशा ही उसके उपादान रहते हैं। किंतु एक दूसरे से जुदा होने की स्थिति में दोनों में से कोई भी केवल संभाव्य रूप में ऐसे उपादान हो सकते हैं। उत्पादन के जारी रहने के लिए उन सबका संयुक्त होना आवश्यक है। जिस विशिष्ट पद्धति ये यह संयोग सम्पन्न होता है उसी के अनुसार सामाजिक ढांचे के विभिन्न आर्थिक युग अलग-अलग पहचाने जाते हैं।" (*पूंजी*, खंड-2, अध्याय-1, अनुभाग-2, पृष्ठ-43)

औपनिवेशिक काल में देश के उत्पादन साधनों पर ब्रिटिश औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग का स्वामित्व कायम हो गया था और उसी वर्ग ने भूमि व्यवस्था में देश के कृषकों को उत्पादन के साधनों के साथ संयुक्त करने की जिस विशिष्ट पद्धति को लागू किया था यह विशिष्ट पद्धति किसान वर्ग के शाोषण की अर्द्धसामंती उत्पादन पद्धति थी जो औपनिवेशिक शोषण का आधार थी। यानी औपनिवेशिक ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग भारतीय कृषक वर्ग को अर्द्ध-सामंती उत्पादन पद्धति के जरिए लूट रहा था एवं औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग ही उत्पादों और निचोड़े गये अधिशेष के वितरण का नियमन करता था, सामंती वर्ग नहीं। औपनिवेशिक सत्ता, औपनिवेशिक शासन, औपनिवेशिक शिक्षा आदि सभी औपनिवेशिक वर्ग द्वारा कायम की गयी उत्पादन पद्धति और उसके जरिए किये जाने वाले औपनिवेशिक शोषण की रक्षा और सेवा के उपकरण थे। इन्हीं सब तथ्यों के आधार पर हमने औपनिवेशिक वर्ग द्वारा कायम की गयी अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति कहा है।

2.

यदि जाति व्यवस्था स्वयं कभी कोई वर्ग संरचना नहीं रही

तो जाति व्यवस्था की विचारधारा का होना भी संभव नहीं।

अभिनव सिन्हा लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में अलग-अलग शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाये रखने वाली एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है।...जातिगत विचारधारा वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है और ऐसा उसके लिए ज़रूरी है, अगर वह सही मायने में प्रभावी बने रहना चाहती है। अगर जातिगत विचारधारा वर्ग विभाजनों का प्रतिबिंबन करने लगेगी तो उसके साथ जुडो सारी दिव्यता और प्रभा-मंडल जाता रहेगा। " (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद)

लेकिन मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी संयुक्त रचना *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के प्रथम अध्याय को इन शब्दों से आरंभ किया है कि: "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास* वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है। "

मार्क्स एंगेल्स द्वारा दी गयी ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस शिक्षा में यह बात अंतर्निहित है कि वर्ग संघर्ष और वर्ग शासन को वर्ग विचारधारा से विलग नहीं किया जा सकता। सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा सत्ताधारी वर्ग से स्वायत्त हो ही नहीं सकती। एतिहासिक भौतिकवाद का यह आधारभूत सिद्धांत इस अन्तरविरोध की इज़ाज़त नहीं देता कि एक तरफ तो आप कहें कि जाति कभी वर्ग नहीं थी और दूसरी तरफ आप जाति की विचारधारा होने का दावा करें। क्योंकि ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के मुताबिक विचारधारा किसी वर्ग व्यवस्था से ही जन्म लेतो है और हर विचारधारा वर्ग विचारधारा होती है। यदि जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था से भिन्न कोई चीज़ थी दूसरे शब्दों में यदि जाति वर्ग नहीं थी तो जाति व्यवस्था की विचारधारा का होना भी संभव नहीं है। आइए! वर्ग और वर्ग-विचारधारा के अविच्छेद्य अन्तर्सम्बन्ध को समझन के लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद के संस्थापकों मार्क्स और एंगेल्स की शिक्षाओं के आधार पर चर्चा की शुरुआत करें।

सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स *जर्मन विचारधारा* में लिखते हैं:

"सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं: अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी **भौतिक** शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी **बौद्धिक** शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते है, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रहता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किए जाने वाले प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं हैं; अत: वे उन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं; इसलिए वे उनके प्रभुत्व के विचार हुआ करते हैं।" (जर्मन विचारधारा, अध्याय 1, अनुभाग 3 / संकलित रचनाएं खंड-1, भाग-1, पृष्ठ 55)

ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह आधारभूत सिद्धांत कि "सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं" एक सार्वभौमिक सिद्धांत है और भारत का इतिहास इसका अपवाद नहीं हो सकता। मार्क्स ने कहा है जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है यानी जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं वह वर्ग ही उस वर्ग समाज की सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। मार्क्स-एंगेल्स की इस प्रस्थापना का सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि वर्ग समाज में शासक वर्ग की विचारधारा उसकी अपनी वर्ग विचारधारा होती है। अपने शासन के वैधीकरण के लिए शासक वर्ग विचारधारा अपने से कहीं बाहर से हासिल नहीं करता। शासक वर्ग का एक हिस्सा सत्ताधारी विचारों को पैदा करने के लिए चिंतकों के रूप में प्रकट होता है। देखें इस बारे मार्क्स-एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"श्रम विभाजन, जैसा कि हम ऊपर...अब तक इतिहास की प्रमुख शक्तियों में से एक के रूप में देख चुके हैं, **सत्ताधारी वर्ग में भी मानसिक तथा भौतिक श्रम के विभाजन के रूप में अपने को प्रकट करता है, इस तरह इस वर्ग के अन्दर एक भाग वर्ग के चिंतकों के रूप में प्रकट होता है (उसके सक्रिय, विचारक्षम सिद्धांतकार जो अपने बारे में इस वर्ग के भ्रमों को सर्वांगपूर्ण बनाने के काम को अपनी आजीविका का मुख्य साधन बनाते हैं**), जबकि दूसरे लोग इन विचारों और भ्रमों के प्रति अधिक निष्क्रिय होते हैं, वे इन्हें सिर्फ आत्मसात ही कर सकते हैं क्योंकि वे ही वस्तुत: इस वर्ग के सक्रिय सदस्य हैं तथा उनके पास अपने बारे में भ्रम तथा विचार संवारने के लिए कम समय होता है। इस वर्ग के अंदर यह विभाजन दोनों भागों के बीच एक हद तक विरोध तथा वैरभाव में भी बदल सकता है, परंतु वह व्यावहारिक टकराव की दशा में, जिसमें स्वयं वर्ग का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है, अपने-आप खत्म हो जाता है, **उस दशा में यह दिखावा भी लुप्त हो जाता है कि सत्ताधारी विचार सत्ताधारी वर्ग के विचार नहीं थे और उनमें इस वर्ग की शक्ति से अलग शक्ति थी**। किसी काल विशेष में क्रांतिकारी विचारों का अस्तित्व एक क्रांतिकारी वर्ग के अस्तित्व का पूर्वानुमान करता है;.." (वही, पृष्ठ 55-56, जोर हमारा)

मार्क्स ने अपने इस उद्धरण में ऐतिहासिक भौतिकवाद संबंधी दो मौलिक शिक्षाएं बतायी हैं। पहली तो यह कि सत्ताधारी वर्ग में भी मानसिक और भौतिक कार्यों के लिए श्रम विभाजन होता है तथा मानसिक और भौतिक कार्यों के लिए इस वग के अंदर ही एक भाग इसके चिंतकों अथवा दार्शनिकों के रूप में प्रकट होता है जिनका काम होता है वर्ग शासन के वैधीकरण के लिए विचारधारा और सिद्धांतों का निर्माण करना। अपने इसी कार्य को शासक वर्ग का यह चिंतक समुदाय अपनी आजीविका का मुख्य साधन बनाता है। और क्योंकि ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह प्रस्थापना सार्वभौमिक चरित्र रखती है इसलिए भारत में भी शासक वर्ग की ब्राह्मणवादी विचारधारा को जन्म देने और उसका विकास करने का कार्य भी सत्ताधारी वर्ग के प्रतिनिधि चिंतकों ने ही किया है।

अभिनव सिन्हा ने भी अपने 'शोध-पेपर' में लिखा है:

"**रामशरण शर्मा** ने स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि खान-पान, छुआछूत सम्बन्धी और साथ ही विवाह के रिश्ते संबंधी जातिगत बंधनों और रूढ़ियों का भी एक उद्‌भव और विकास हुआ है। सुवीरा जायसवाल और **डी.डी. कोसांबी** ने भी प्रदर्शित किया है कि शुद्धता/प्रदूषण के विचारों के विकास का एक इतिहास रहा है।

इन विचारों को गढ़ने और बनाने का काम शासक वर्ग के अंग और विचारकों के तौर पर ब्राह्मणों ने किया। इन विचारों का कार्य था शोषण के प्रभावी संबंधों को कर्मकाण्डीय रूप से अश्मीभूत कर स्थायीत्व प्रदान करना।..." (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 128, रेखांकन जोड़ा गया)

यानी अभिनव सिन्हा भी यहां स्पष्ट तौर पर स्वीकारते हैं कि शुद्धता/प्रदूषण पर आधारित ब्राह्मणवादी विचारधारा को गढ़ने और बनाने का काम शासक वर्ग के अंग और विचारकों के तौर पर ब्राह्मणों ने किया। यानी ब्राह्मणवादी विचारधारा जिसे हम जाति व्यवस्था की विचारधारा कहकर पुकारते हैं, असल में शासक वर्ग की ही विचारधारा थी जिसको गढ़ने का काम शासक वर्ग के अंग ब्राह्मण चिंतकों एवं विचारकों ने किया। इसका अर्थ इसके अलावा और कुछ नहीं कि ब्राह्मणवादी विचारधारा एक दौर के शासक वर्ग की विचारधारा थी तथा यह वर्ग विचारधारा ही जाति विचारधारा थी। ऊपर दिए गए मार्क्स-एंगेल्स के उद्धरणों से इतना जरूर पूर्णत: स्पष्ट है कि किसी भी वर्ग विभाजित समाज में सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा सत्ताधारी वर्ग की अपनी वर्ग विचारधारा होती है। न तो सत्ताधारी वर्ग द्वारा सत्ताधारी विचारधारा कहीं बाहर से प्राप्त की जाती है और न ही वह वर्गों से स्वायत्त होती है। लेकिन देखिए, अभिनव सिन्हा अपने 'शोध पेपर' में इस बारे क्या कहते हैं। वह लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में अलग-अलग शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाये रखने वाली एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 102-03)

अभिनव सिन्हा ने यह कह कर कि जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है, ऐतिहासिक भौतिकवाद को ध्वस्त कर दिया है। प्रश्न है कि क्या सत्ताधारी वर्गों की विचारधारा सत्ताधारी वर्गों के बाहर से आती है? और देखें अभिनव सिन्हा इस संबंध में क्या लिखते हैं:

"... **जातिगत विचारधारा वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है** और ऐसा उसके लिए ज़रूरी है, अगर वह सही मायने में प्रभावी बने रहना चाहती है।" (वही, पृष्ठ 130, जोर हमारा)

यानी जो विचारधारा सत्ताधारी वर्गों के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए एक उपयोगी विचारधारा का काम करती है वह विचारधारा वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त भी रहती है। यानी सत्ताधारी वर्ग के शासन को बनाए रखने और उसे बल देने वाली विचारधारा सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा न होकर सत्ताधारी वर्ग से स्वायत्त विचारधारा होती है। अभिनव सिन्हा आगे लिखते हैं:

"अगर जातिगत विचारधारा वर्ग विभाजनों का प्रतिबिंबन करने लगेगी तो उसके साथ जुड़ी सारी दिव्यता और प्रभा-मंडल जाता रहेगा। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जाति विचारधारा एक धार्मिक विचारधारा है, जो पेशागत, वैवाहिक बंधनों और शुद्धता/प्रदूषण के पैमाने पर पदानुक्रम को सही ठहराने के लिए धर्म से अपना प्राधिकार प्राप्त करती है। जाहिरा तौर पर, अगर हम इस बात को समझते हैं तो यह समझना आसान होगा कि जाति कभी भी वर्ग के साथ पूर्णत: अतिच्छादित नहीं हो सकती। उनमें एक करेस्पॉण्डेंस का सम्बन्ध ही हो सकता है। लेकिन निश्चित तौर पर इस रूप में भी जाति विचारधारा अपने

उद्‌भव से लेकर आज तक शासक वर्गों को अलग-अलग रूपों में एक ज़बरदस्त औज़ार देती रही है।..." (वही, पृष्ठ-130, जोर हमारा)

ऊपर दिए उद्धरणों में जाति व्यवस्था की विचारधारा की खासियतों के बारे में अभिनव सिन्हा ने कहा है कि वह शासक वर्गों की सेवा करती है; वह अपने को प्रभावी बनाए रखने के लिए वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है क्योंकि अभिनव सिन्हा के अनुसार जाति व्यवस्था यदि वर्ग विभाजनों को प्रतिबिंबन करेगी तो उसके साथ जुड़ी सारी दिव्यता और प्रभामंडल जाता रहेगा। अभिनव सिन्हा ने यह भी कहा कि जाति विचारधारा अपने उद्‌भव से लेकर आज तक शासक वर्गों को अलग-अलग रूपों में एक ज़बरदस्त औज़ार मुहैया कराती है। जाति व्यवस्था की विचारधारा की अभिनव सिन्हा द्वारा बतायी गयी ये सभी खासियतें ऐतिहासिक भौतिकवाद की जड़ों पर कुल्हाड़ी चलाने के समान हैं। ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणा की, जिसकी खोज मार्क्स ने की उसकी आधारभूत प्रस्थापना यह है कि चेतना, विचार और विचारधारा समाज की भौतिक प्रक्रिया की उपज होती हैं। और समाज की भौतिक प्रक्रिया उसकी उत्पादन क्रिया होती है और उत्पादन क्रिया की कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति होती है और किसी वर्ग विभाजित समाज व्यवस्था में उत्पादन पद्धति एक वर्ग सरंचना पर टिकी होती है। अब प्रश्न यह है कि जब जाति व्यवस्था अभिनव सिन्हा के अनुसार कभी कोई उत्पादन पद्धति ही नहीं थी और जाति स्वयं कभी वर्ग नहीं थी, तो जाति व्यवस्था की विचारधारा कहां से आयी? जाति व्यवस्था की विचारधारा की पैदाइश के लिए क्या जाति को वर्ग होने की आवश्यकता नहीं है? ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्ग विभाजित समाज में कोई भी सामाजिक विचार अथवा विचारधारा वर्ग विचारधारा होने के लिए बाध्य है क्योंकि इसके अलावा वह और कुछ हो ही नहीं सकती। पर अभिनव सिन्हा ने अपने 'शोध कार्य' से जो निष्कर्ष निकाला है वह यह है कि जाति व्यवस्था की विचारधारा वर्गों से स्वायत्त है और यह वर्ग विभाजन का प्रतिबिंबन भी नहीं करती क्योंकि यदि यह ऐसा करेगी तो इसकी दिव्यता और प्रभा-मंडल नष्ट हो जाएगा। अभिनव सिन्हा के ये सारे निष्कर्ष भाववाद से सराबोर हैं। क्या ऐतिहासिक भौतिकवाद विरोधी अपने इस प्रकार के हास्यास्पद निष्कर्षों से अभिनव सिन्हा खुद उपहास के पात्र नहीं बन गए हैं? अभिनव सिन्हा ने ऊपर दिये गये उनके एक उद्धरण में लिखा है कि ब्राह्मणवादी विचारधारा को 'गढ़ने और बनाने का काम शासक वर्ग के अंग और विचारकों के तौर पर ब्राह्मणों ने किया' तो क्या फिर शासक वर्ग के ये चिंतक और विचारक शुद्धता/प्रदूषण के गढ़े गये विचारों को अपने वर्ग के खाते में न डालकर जाति के खाते में डालते गये जो कि निश्चित अर्थों में वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त रहती है और बाद में शासक वर्ग जाति व्यवस्था के खाते से शुद्धता/प्रदूषण के उन विचारों को लेकर अपने शासन का वैधीकरण करते रहे? *जर्मन विचारधारा* से मार्क्स-एंगेल्स के ऊपर दिए गए एक उद्धरण में एक और अति महत्वपूर्ण बात यह है कि सत्ताधारी वर्ग सदैव यह चाहते हैं कि जिन विचारों और परंपराओं से वे अपना शासन चलाते हैं, शोषित-पीड़ित लोग यह न समझ पाएं कि वे विचार और परंपराएं सत्ताधारी वर्गों के चिंतकों द्वारा पैदा किये गये विचार और परंपराएं हैं। अर्थात् सत्ताधारी वर्ग चाहते हैं कि उत्पीड़ित लोग यह विश्वास करें कि सत्ताधारी विचार सत्ताधारी वर्ग के विचार नहीं बल्कि किसी बाह्य स्रोत से आ रहे हैं और जिस भ्रम को सत्ताधारी वर्ग कायम रखना चाहते हैं उसी भ्रम की वकालत अभिनव सिन्हा करते हैं, जब वह यह कहते हैं कि जाति व्यवस्था जो उनके अनुसार वर्गों से स्वायत्त है, शासक वर्गों को उनके शासन के वैधीकरण के लिए एक उपयोगी विचारधारा मुहैया कराती रही है।

समाज के भौतिक उत्पादन, बौद्धिक उत्पादन और शासक वर्ग में अन्तर्सम्बन्ध

मार्क्स-एंगेल्स समाज के भौतिक उत्पादन, बौद्धिक उत्पादन और शासक वर्ग के पारस्परिक संबंध बारे अपनी संयुक्त रचना *कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र* में लिखते हैं:

"विचारों का इतिहास इसके सिवा और क्या साबित करता है कि जिस अनुपात में भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है, उसी अनुपात में बौद्धिक उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित होता है? हर युग के प्रभुत्वशाली विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं।" (अध्याय 2, पृष्ठ 60)

घोषणापत्र की इन तीन पंक्तियों से कोई भी आसानी से समझ सकता है कि विचारों का उत्पादन समाज के भौतिक उत्पादन पर आधारित है यानी उत्पादन पद्धति पर। उत्पादन पद्धति से बाहर विचारों की पैदाइश संभव नहीं। और वर्ग विभाजित समाज में उत्पादन पद्धति क्योंकि वर्गों पर आधारित होती है इसलिए विचारधारा भी वर्ग चरित्र लेकर पैदा होती है। अब क्योंकि अभिनव सिन्हा के अनुसार जाति व्यवस्था स्वयं कभी कोई वर्ग व्यवस्था यानी उत्पादन पद्धति ही नहीं रही तो फिर जाति व्यवस्था स्वयं कोई विचारधारा भी कैसे पैदा कर सकती है क्योंकि विचारों का उत्पादन तो भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होता है। घोषणापत्र की इन तीन पंक्तियों में ऐतिहासिक भौतिकवाद का दूसरा बुनियादी सिद्धांत यह है कि 'हर युग के प्रभुत्वशाली विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं'। लेकिन अभिनव सिन्हा के 'शोध पेपर' का निष्कर्ष है कि भारत के शासक वर्गों की विचारधारा वगों से स्वायत्त थी क्योंकि वह उन्हें वर्ग स्वायत्त जाति व्यवस्था से प्राप्त होती थी जिसके जरिए उन्होंने अपने शासन का वैधीकरण किया। प्रश्न है कि क्या जाति व्यवस्था के तमाम कायदे कानून, संविधान और स्मृतियों का ताना-बाना वर्गों से स्वायत्त था? क्या इन सबका कोई वर्ग चरित्र नहीं था? अभिनव सिन्हा के मुताबिक ब्राह्मणवादी विचारधारा शासक वर्ग की अपनी विचारधारा न होकर जाति व्यवस्था की विचारधारा थी जो वर्गों से स्वायत्त थी! अभिनव सिन्हा के 'शोध पेपर' के इस प्रकार के निष्कर्षों पर हम क्या टिप्पणी करें? पाठक साथी खुद अंदाजा लगा सकते हैं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धांतों को अभिनव सिन्हा किस कदर तहस-नहस कर रहे हैं! अभिनव सिन्हा की इस प्रकार की समझ का मूल कारण यह है कि वे जाति को वर्ग से भिन्न और स्वायत्त देखते हैं तथा उनमें अतिच्छादन और संगति के सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं। क्या जात-पांत वाली आनुवांशिक श्रम-विभाजन पर आधारित प्राचीन और मध्यकालीन भारत की आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की व्यवस्था में कभी ब्राह्मण जाति भी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक तौर पर शोषण-उत्पीड़न का शिकार रही है? अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि "जाति व्यवस्था स्वयं किसी दौर की, या कोई, उत्पादन पद्धति नहीं है" (पृष्ठ- 53/65)। क्या वह बता सकते हैं कि प्राचीन काल से लेकर औपनिवेशिक काल तक कायम रही आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों वाली उत्पादन पद्धति यदि जाति व्यवस्था की उत्पादन पद्धति नहीं थी तो फिर क्या थी? ग्राम समुदायों वाली इस उत्पादन पद्धति के समूचे काल में सभी पेशे जातियों के आधार पर और जन्मजात थे, जो कि जातियों के बीच स्थायी उत्पादन सम्बन्ध ही थे। अभिनव सिन्हा से यदि कोई पूछे कि अगर जाति व्यवस्था कभी स्वयं वर्ग व्यवस्था और उत्पादन पद्धति ही नहीं थी तो क्या जाति-उत्पीड़न संभव होता? क्या मानव द्वारा मानव का शोषण और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन-उत्पीड़न केवल और केवल वर्गों पर आधारित किसी विशिष्ट शोषणमूलक उत्पादन पद्धति के जरिए ही संभव नहीं होता है? अभिनव सिन्हा के मुताबिक यदि जाति

व्यवस्था स्वयं कभी कोइ उत्पादन पद्धति थी ही नहीं तो फिर अभिनव सिन्हा को यह भी कहना पड़ेगा कि जाति व्यवस्था के आधार पर कभी किसी प्रकार का शोषण-उत्पीड़न भी नहीं हुआ, क्योंकि शोषण-उत्पीड़न वर्गों पर आधारित किसी उत्पादन पद्धति के जरिए ही संभव होता है। अभिनव सिन्हा अपने इस बेतुके अन्तर्विरोध से केवल तभी निजात पा सकते हैं जब वे यह मान लें कि भारत में वर्गों ने ही जातियों का विशिष्ट रूप ले लिया था और वर्ग ही जाति थी तथा जाति ही वर्ग। और फिर वे सही निष्कर्ष पर पहुंच जाएंगे कि जाति व्यवस्था की विचारधारा असल में वर्ग विचारधारा ही थी यानी सत्ताधारी अथवा शासक वर्ग की विचारधारा।

सत्ताधारी वर्ग के विचारों को सत्ताधारी वर्ग से स्वायत्त किया जाना असंभव है

अभिनव सिन्हा ने ऊपर दिये गए उनके उद्धरण में कहा कि, "जातिगत विचारधारा वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है"। ऐसा कहकर अभिनव सिन्हा सत्ताधारी वर्ग के विचारों को सत्ताधारी वर्ग से पृथक कर देते हैं बेशक निश्चित अर्थों में ही सही। लेकिन ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धांत हमें सिखाते हैं कि सत्ताधारी वर्ग के विचार किन्हीं भी अर्थों में सत्ताधारी वर्ग से स्वायत्त हो ही नहीं सकते। *जर्मन विचारधारा* में मार्क्स-एंगेल्स लिखते हैं:

"एक बार सत्ताधारी विचार सत्ताधारी व्यक्तियों से और, सर्वोपरि, उन संबंधों से, जो उत्पादन की विधि की एक निश्चित मंजिल से पैदा होते हैं, पृथक कर दिए जाएं, और इस तरह यह निष्कर्ष निकाल लिया जाए कि इतिहास सदैव विचारों के वशीभूत रहता है--" (वही, पेज 58)

यहां कार्ल मार्क्स वामपंथी हेगेलवादियों के इतिहास संबंधी भाववादी दृष्टिकोण की आलोचना कर रहे हैं। भाववादी लोग विचारों अथवा विचारधारा को सत्ताधारी वर्ग और एक निश्चित मंजिल पर पैदा हुई उत्पादन पद्धति से पृथक कर देते हैं और जब एक बार विचारों को उत्पादन पद्धति और सत्ताधारी वर्ग से पृथक कर दिया जाए तो फिर वे स्वतंत्र हो जाते हैं और ऐसा लगने लगता है कि इतिहास विचारों के अधीन है। अभिनव सिन्हा अंतिम विश्लेषण में तो मानते हैं कि विचार उत्पादन प्रक्रिया से स्वतंत्र नहीं हैं लेकिन इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण सुसंगत भौतिकवादी दृष्टिकोण नहीं है। जब वह कहते हैं कि सत्ताधारी वर्गों को अपने शोषण और शासन के वैधीकरण के लिए विचारधारा जाति व्यवस्था से उपलब्ध होती रही है और जाति व्यवस्था स्वयं में कोई उत्पादन पद्धति नहीं रही और न ही जाति वर्ग रही, तो अपने इस कथन से वे भाववाद की ओर एक कदम बढ़ा देते हैं। क्योंकि यदि जाति वर्ग नहीं थी और जाति व्यवस्था उत्पादन पद्धति नहीं थी तो फिर विचारधारा, उत्पादन पद्धति पर काबिज़ सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा न रहकर जाति व्यवस्था की एक ऐसी विचारधारा में तब्दील हो जाती है जो वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त है और जिसे फिर वर्ग विचारधारा नहीं कहा जा सकता। पर ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी शिक्षाओं के अनुसार जब से समाज वर्ग विभाजित हुआ है तभी से विचारधारा सदैव हर युग में वर्ग विचारधारा रही है, वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त विचारधारा नहीं। दास-स्वामी युग में वह सत्ताधारी दासों के स्वामियों की, मध्ययुग में सामंती वर्ग की, पूंजीवाद में सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग की और समाजवाद में सत्ताधारी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा ही

प्रभुत्वशाली विचारधारा होती है। लेकिन अभिनव सिन्हा द्वारा किए गए भारतीय इतिहास और जाति व्यवस्था संबंधी अध्ययन के निष्कर्ष विचारधारा के वर्ग चरित्र को हवा में उड़ा देते हैं और विचारधारा को जाति व्यवस्था की विचारधारा बना देते हैं जो उनके अनुसार वर्गों की व्यवस्था से स्वायत्त है। उनका कहना है कि जाति वर्ग नहीं और वर्ग जाति नहीं तथा जाति व्यवस्था कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं रही। इस प्रकार के बेतुके निष्कर्ष निकालकर अभिनव सिन्हा ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के जैविक ढांचे को क्षत-विक्षत कर दिया। तो फिर इसे हम संशोधनवाद कहें अथवा मार्क्सवाद का अंग-भंग?

विगत के शोषक वर्गों की सामाजिक चेतना की निरंतरता सभी समाजों में मौजूद रही है, यह केवल जाति विचारधारा की ही विशिष्टता नहीं है

अभिनव सिन्हा अपने 'शोध पेपर' में लिखते हैं:

"तीसरी बात, जो हम इस आलेख में रखना चाहेंगे वह यह है कि **जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में अलग-अलग शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाए रखने वाली एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है।** इस रूप में, जाति व्यवस्था की विशिष्टता को स्वीकारा जाना चाहिए, क्योंकि अन्य समाजों के इतिहास में शासक वर्गों के प्रभुत्व और वर्चस्व को **वैधीकरण (लेजिटिमेशन)** प्रदान करने वाली विचारधाराओं में इस प्रकार की निरंतरता का तत्व मौजूद नहीं रहा है। नये शासक वर्गों के आने के साथ आम तौर पर अन्य समाजों में शासक वर्ग के शासन को वैधीकरण देने वाली नयी विचारधाराओं में परिवर्तन का पहलू प्रधान रहा है। लेकिन भारतीय सामाजिक संरचना के इतिहास में जाति की विचारधारा में तमाम बुनियादी बदलावों के बावजूद उसका मूलभूत तत्व (कोर एलिमेण्ट) जो कि इसे निर्धारित और निरूपित करता है, वह समान रहा है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 102-103, रेखांकन जोड़ा गया)

अभिनव सिन्हा की यह बात कतई सही नहीं है कि जाति व्यवस्था की तरह अन्य समाजों की विचारधारा में निरंतरता का तत्व मौजूद नहीं रहा। पहली बात तो यहां यही ग़लत है कि भारत में शासक वर्गों ने अपने शासन के वैधीकरण के लिए वर्गों से बाहर की किसी स्वायत्त व्यवस्था से विचारधारा हासिल की हो और किसी भी वर्ग विभाजित समाज में ऐसा हो ही नहीं सकता। अभिनव सिन्हा शासक वर्गों द्वारा अपने शासन के वैधीकरण के लिए वर्गों से स्वायत्त जाति व्यवस्था से विचारधारा लिये जाने की कल्पना केवल इस गलत अवधारणा के आधार पर ही कर सकते हैं कि जाति वर्ग नहीं थी तथा जाति व्यवस्था स्वयं में कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी। वर्तमान पूंजीवादी समाज में जाति व्यवस्था की विचारधारा की निरंतरता समाज की अधिरचना में इसलिए विद्यमान है कि जाति व्यवस्था अतीत में एक शोषण-उत्पीड़न पर आधारित उत्पादन पद्धति थी और वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था भी एक भिन्न प्रकार के शोषण-उत्पीड़न पर आधारित एक उत्पादन पद्धति है। उदाहरण के तौर पर दास स्वामी शोषण मूलक व्यवस्था के दार्शनिक प्लेटो दास-स्वामियों के वर्ग के चिंतक थे जिन्होंने दास-स्वामियों के शासन और शोषण-उत्पीड़न के वैधीकरण के लिए यह विचार दिया था कि दास और दास-स्वामी दोनों ही 'भगवान के घर' हुए निर्णय से धरती पर आते हैं। और यह 'भगवान का घर' जहां शोषित-पीड़ित लोगों की 'तकदीर' के निर्णय होते हैं, शोषक वर्गों की विचारधारा का निरंतर

हिस्सा रहा है। शोषक वर्गों के शोषण-उत्पीड़न को वैधता देने वाली शोषक वर्गों की विचारधारा की निरंतरता के संबंध में मार्क्स-एंगेल्स अपनी संयुक्त रचना *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में लिखते हैं:

"...पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग-विरोधों का, जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था। पर उन्होंने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, पिछले सभी युगों में एक चीज हर अवस्था में मौजूद थी–समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विगत युगों की सामाजिक चेतना, अनेकानेक विविधता और विभिन्नता प्रदर्शित करने के बावजूद, किन्हीं सामान्य रूपों या सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है, जो वर्ग विरोधों के पूर्ण रूप से विलुप्त होने के पहले पूरी तरह नहीं मिट सकते।" (अध्याय 2, पृष्ठ 61)

घोषणापत्र के इस उद्धरण से पूर्णत: स्पष्ट है कि शोषक वर्गों द्वारा पैदा की गई सामाजिक चेतना अन्य समाजों में भी अपनी विविधता और विभिन्नता के बावजूद सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है क्योंकि पिछले सभी युगों में समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण किसी न किसी रूप में कायम रहा है और यह शोषण की निरंतरता ही शोषक वर्गों द्वारा पैदा की गई सामाजिक चेतना की निरंतरता का कारण है। और चूंकि भारत में वर्ग विरोधों पर आधारित समाज व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था का विशिष्ट रूप अख्तियार किया था, इसलिए जाति व्यवस्था की विचारधारा भारत के आरंभिक शोषक वर्गों की विचारधारा के रूप में पैदा हुई थी तथा औपनिवेशिक वर्ग ने जाति व्यवस्था के आर्थिक ढांचे पर अपने हितों की सीमाओं में चोट पहुंचाते हुए उसका और उससे उपजी अधिरचना, दोनों का उपयोग किया एवं उसके बाद देशी प्रतिक्रियावादी पूंजीपति शोषक वर्ग ने जाति व्यवस्था के आधारस्तंभ आनुवांशिक श्रम विभाजन को समाप्त करते हुए जाति व्यवस्था की विचारधारा को अपने हितों में बनाये रखा। अत: विगत शोषणमूलक युगों की सामाजिक चेतना की निरंतरता भारत में ही नहीं अपितु विश्व के सभी समाजों में बनी रही है।

असल में अभिनव सिन्हा द्वारा अपने 'शोध' के जरिए गढ़ी गयी यह प्रस्थापना कि: "...जातिगत विचारधारा वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है और ऐसा उसके लिए ज़रूरी है, अगर वह सही मायने में प्रभावी बने रहना चाहती है। अगर जातिगत विचारधारा वर्ग विभाजनों का प्रतिबिंबन करने लगेगी तो उसके साथ जुड़ी सारी दिव्यता और प्रभा-मंडल जाता रहेगा।", ऐतिहासिक भौतिकवाद को खण्ड-खण्ड करना है। वर्ग-विचारधारा के बारे में इस प्रकार का कथन इस कथन के समान है कि कोई कहे कि 'राज्यसत्ता अथवा राज्य निश्चित अर्थों में वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त रहता है, और किसी वर्ग का राज्य होने का प्रतिबिंबन भी नहीं करता है'; अथवा कोई यह कहे कि 'अधिरचना निश्चित अर्थों में वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त रहती है और किसी वर्ग का प्रतिबिंबन भी नहीं करती है'। जिस प्रकार यह कहा जाना कि 'राज्य वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहता है तथा किसी वर्ग का प्रतिबिंबन नहीं करता है', ऐतिहासिक भौतिकवाद पर कुठाराघात है ठीक उसी प्रकार यह कथन भी ऐतिहासिक भौतिकवाद पर कुठाराघात है कि जाति-विचारधारा वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है और वर्गों का प्रतिबिंबन भी नहीं करती है। क्योंकि ऐसा कहने से 'राज्य' और 'विचारधारा' का वर्ग चरित्र ही गायब हो जाता है।

लेनिन ने अपनी रचना *राज्यसत्ता और क्रांति* के अध्याय-1 के अनुभाग-1 में लिखा है कि, "मार्क्स के अनुसार राज्यसत्ता **वर्ग-शासन** का अस्त्र है, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का **उत्पीड़न** करने का अस्त्र है;"। ठीक यही बात विचारधारा पर भी लागू होती है कि शासन के वैधीकरण की विचारधारा सत्ताधारी अथवा शासक वर्ग की विचारधारा होती है, न कि वर्गों से स्वायत्त किसी संस्था की विचारधारा। अभिनव सिन्हा द्वारा वर्ग-विचारधारा को जाति व्यवस्था की स्वायत्त विचारधारा में रूपांतरित कर देने का मूल कारण यह है कि वह जाति और वर्ग को एक दूसरे से विछिन्न कर देते हैं। इसलिए जब जाति वर्ग ही नहीं रहती तो जाति-विचारधारा भी वर्ग विचारधारा नहीं रह सकती; जब जाति ही वर्ग से स्वायत्त कर दी जाती है तो फिर विचारधारा का भी वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त हो जाना लाज़िमी हो जाता है और अभिनव सिन्हा को यह भी मालूम नहीं कि ऐसा होने से मार्क्सवाद का अखण्ड (monolithic) चरित्र ही भंग हो जाता है। लेनिन ने लिखा है कि यदि आप मार्क्सवादी दर्शन से किसी एक भी बुनियादी मान्यता को अथवा एक भी अनिवार्य अंश को निकाल देते हैं तो ऐसा आप किसी पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी झूठ का शिकार हुए बिना नहीं कर सकते। देखें:

"...इस मार्क्सवादी दर्शन से, जो फौलाद के एक ही टुकड़े से बनाया गया है, वस्तुगत सत्य से हटे बिना, किसी पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी झूठ का शिकार हुए बिना आप एक भो बुनियादी मान्यता को, एक भी अनिवार्य अंश को नहीं निकाल सकते।" (भौतिकवाद और अनुभवालोचना, अध्याय 6 (2))

3.

जाति-व्यवस्था के खात्मे बारे 'बिगुल' वालों की परस्पर विरोधी दो अवस्थितियां

अभिनव सिन्हा और उनका दल जाति व्यवस्था के उद्गम और उसके खात्मे बारे परस्पर विरोधी दो अवस्थितियां अपनाकर चलते हैं। जाति व्यवस्था के उद्भव और खात्मे सम्बन्धी एक अवस्थिति को अभिनव सिन्हा ने एंगेल्स द्वारा *कम्युनिज़्म के सिद्धांत,* प्रश्न 20 के दिये गये उत्तर से हू-ब-हू मिलान कर दिया, जहां एंगेल्स लिखते हैं कि: "...वर्ग श्रम विभाजन से अस्तित्व में आए थे और श्रम विभाजन अपने विद्यमान रूप में पूरी तरह लुप्त हो जाएगा।" यानी समाज में वर्ग विभाजन तब तक लुप्त नहीं हो सकता जब तक इसमें विद्यमान श्रम विभाजन लुप्त नहीं होता। इसी सिद्धांत को अभिनव सिन्हा और उनके दल ने जाति प्रथा के उद्भव और उसके खात्मे के साथ नत्थी कर दिया। उनका कहना है कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था, श्रम विभाजन, वर्ग विभाजन और राज्य की उत्पत्ति के साथ वजूद में आयी और तब तक नए-नए रूप धारण करते हुए विद्यमान रहेगी जब तक कि श्रम विभाजन, वर्ग विभाजन और राज्य का विलुप्तीकरण नहीं हो जाता। जाति व्यवस्था के उद्भव और खात्मे के बारे में एक अवस्थिति तो 'मजदूर बिगुल' सम्पादक अभिनव सिन्हा ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत की है:

"...यह भी स्पष्ट है कि **जाति व्यवस्था वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के साथ अस्तित्व में आयी है और, उनके वैधीकरण का उपकरण बनी ह। ऐसे में, वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के किसी भी रूप में मौजूदगी तक जातिगत अन्तरविरोध, विचारधारा और मानसिकता की मौजूदगी भी बनी रहेगी। एक वर्गविहीन समाज की लड़ाई ही एक जातिविहीन समाज की लड़ाई हो सकती है**।...जाति और जातिवाद

के ख़िलाफ़ निरंतर, अनथक प्रचार के बिना सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद के विरुद्ध संगठित नहीं हो सकता, और सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी सत्ता की स्थापना और एक वर्ग विहीन साम्यवादी समाज की ओर आगे बढ़े बग़ैर जाति और जातिवाद का नाश नहीं हो सकता।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 136, जोर हमारा)

अतः इस पहली अवस्थिति के अनुसार समाज तब तक जातिविहीन नहीं हो सकता जब तक कि वह साथ ही साथ वर्ग विहीन न हो जाए अर्थात् जब तक वर्ग और राज्य बने रहेंगे जातियां भी बनी रहेंगी। इस अवस्थिति के मुताबिक समाज में श्रम विभाजन, वर्गों और राज्य के खात्मे से पहले इसकी कोई संभावना नहीं हो सकती कि जाति व्यवस्था और जातियों का उन्मूलन अथवा अंत हो जाए क्योंकि वर्गों के उन्मूलन का संघर्ष ही जातियों के उन्मूलन का संघर्ष है। यही इनकी जाति व्यवस्था के खात्मे संबंधी पहली अवस्थिति है, जो कि गलत है। पहली बात ता यह कि भारत में वर्गों ने ही जातियों का विशिष्ट रूप लिया था। दूसरी यह जातिगत विचारधारा और जाति मानसिकता को जाति व्यवस्था के साथ गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए। यह फर्क व्यवस्था और व्यवस्था के अवशेषों का फर्क है। अब इनकी दूसरी अवस्थिति देखें जो इस पहली अवस्थिति के पूर्णतः विरोध में खड़ी है।

दूसरी अवस्थितिः

जाति व्यवस्था के खात्मे संबंधी इनकी दूसरी अवस्थिति इस सुखद कल्पना पर आधारित है कि यदि भारत अंग्रेजों का एक उपनिवेश न बनता और अपनी स्वाभाविक आंतरिक गति से उत्पादक शक्तियां विकसित होती और "पूंजी भारतीय जीवन और समाज के पोर-पोर में घुस जाती। उस पुराने समाज की कोख में पूंजीवाद शिशु धीरे-धीरे पलता रहता। सामंती समाज का मूलाधार क्रमशः क्षरित होता हुआ गुणात्मक रूप से भिन्न मंजिल में पहुंच जाता, मेले और हुजूम की-सी समां होती, हलचल और कोलाहल होता वैसा ही जैसा फ्रांस, इंग्लैंड और इटली में प्रारंभिक पूंजीवाद के दिनों में हुआ था।...भयंकर घातों-प्रतिघातों से गुजरकर समाज विकसित होता रहता, उदीयमान पूंजीवाद, इतिहास को तेज गति देने वाला पूंजीवाद, जमीन पर अपनी भौतिक और आध्यात्मिक समगता में अवतरित होता। सामंती समाज के परमाणु के नाभिक पर निरंतर सघन प्रहार उसे विखंडित कर देते और ऊर्जा का अजस्र स्रोत फूट पड़ता। मूलाधार और अधिरचना की निर्णायक टक्कर होती, सामंती अधिरचना टूट कर बिखर जाती और उसके साथ ही विकास के नये-नये क्षितिज खुल जाते। सामंती मूलाधार और अधिरचना के ध्वस्त होने के साथ ही पूंजी समूचे देश को अपने आगोश में ले लेती।..."(लाल तारा-2)।

जाति प्रश्न और उसका समाधानः एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण शीर्षक से अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम द्वारा जो पेपर चतुर्थ अरविंद स्मृति संगोष्ठी में प्रस्तुत किया गया उसमें भी लिखा कि यदि भारत पर औपनिवेशिक कब्जा न होता तो यहां देश के भीतर की विकसित होती हुई उत्पादक शक्तियां जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर डालती लेकिन उपनिवेशवाद ने ऐसा होने नहीं दिया। शोध टीम लिखती हैः

"...हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतंत्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे **पूंजीवादी**

विकास की संभावनाएं मौजूद थीं जो जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे।"(जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, प्रथम संस्करण जनवरी 2014 पेज 32-33, जोर हमारा)

जाति व्यवस्था के खात्मे की यह दूसरी अवस्थिति पहली अवस्थिति के एकदम उलट खडो है। इनकी पहली अवस्थिति कहती है कि क्योंकि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति श्रम विभाजन, वर्ग विभाजन और राज्य के वजूद में आने के साथ जुड़ी हुई है इसलिए यह तब तक खत्म नहीं हो सकती जब तक कि समाज से श्रम विभाजन खत्म न हो जाए, वर्गों का उन्मूलन न हो जाए और राज्य का विलोपन न हो जाए। लेकिन इनकी दूसरी अवस्थिति कहती है कि यदि भारत उपनिवेश न बनता तो यहां के समाज की अपनी आंतरिक गति के फलस्वरूप पैदा होने वाला क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर डालता, बावजूद इसके कि श्रम विभाजन भी बना रहता, वर्ग भी बने रहते और राज्य भी बना रहता। क्या इन दो अवस्थितियों के विरोधाभास का अभिनव सिन्हा के पास कोई जवाब है? क्या अभिनव सिन्हा इस प्रश्न का जवाब दे सकते हैं कि जब भारत के औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाती तो फिर वह ध्वस्त हुई जाति व्यवस्था अपने आप को पूंजीवादी जाति व्यवस्था में कैसे पुनर्नवा करती? जाति व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने का मायने होता है कि आनुवांशिक श्रम विभाजन का पूर्ण खात्मा और उससे उपजे 'अन्य दो आयामों' का भी खात्मा और इसके बाद जाति व्यवस्था का जो कुछ भी बचता वह जाति व्यवस्था का अवशेष ही कहलाता। लेकिन शोध टीम शायद जाति व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने के अर्थों को समझती ही नहीं क्योंकि यदि 'शोध टीम' जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाने के निहितार्थ को समझती तो फिर वह अपने 'शोध पेपर' में ऐसा न लिखती कि:

"...**यदि जाति-व्यवस्था एक बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा नहीं हुई है** तो इस तर्क की निष्पत्ति यह होगी कि पूंजीवाद ही यदि बहुत दिनों तक बना रहा तो जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे तिरोहित हो जाएगी।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 80, जोर हमारा)

जाहिर है कि शोध टीम की मान्यता यह है कि जाति व्यवस्था अपनी खुद की गतिकी के कारण वह बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा हो गयी है। पर सवाल यह है यदि औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में जाति व्यवस्था ध्वस्त ही हो जाती तो फिर उसकी अपनी गतिकी कहां जाती और वह बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में अपने को पुनर्नवा किस गतिकी के आधार पर करती? कितना बड़ा विरोधाभास है कि एक स्थिति में तो जाति व्यवस्था की गतिकी का समूल नाश हो जाता, वह ध्वस्त हो जाती और यदि वह स्थिति नहीं बनी तो फिर जाति व्यवस्था अपनी गतिकी के बल पर आगे छलांग लगा गयी और बुर्जुआ व्यवस्था में पुनर्नवा हो गयी! अभिनव सिन्हा अपने 'शोध पेपर' में लिखते हैं:

"...इसलिए सजातीय विवाह के जरिए पवित्र बुर्जुआ सम्पति की निरंतरता को बनाए रखने और सर्वहारा वर्ग को बांटने का एक मजबूत औज़ार जातिगत विचारधारा पूंजीवाद को दे रही है। **ऐसे में, पूंजीवाद से जाति व्यवस्था को खत्म करने की उम्मीद करना मूर्खता होगा**।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 136, जोर हमारा)

लेकिन पूंजीवाद से (क्रांतिकारी पूंजीवाद से) जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर दिए जाने की संभावना की 'मूर्खता' को पहले ही अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम अपने 'शोध पेपर' में कर चुका है जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, जहां लिखा है कि औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में सामंतवाद के गर्भ से निकलता हुआ भारत का क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर देता। दूसरी बात यह कि उस स्थिति में जब जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाती तो फिर तत्कालीन शासक पूंजीपति वर्ग को न तो पवित्र बुर्जुआ सम्पत्ति की निरंतरता बनाये रखने के लिए सजातीय विवाह की जरूरत रहती और न ही सर्वहारा को बांटने के लिए जातिगत विचारधारा की। यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाना जरूरी होगा कि पवित्र बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की निरंतरता को बनाए रखने के लिए सजातीय विवाह की कतई कोई जरूरत नहीं होती बल्कि इसके लिए ऐसे विवाह की जरूरत होती है जिससे कि सम्पत्ति के मालिक पूंजीपति को यह पक्की तसल्ली हो कि उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसकी अपनी संतान है। क्या अभिनव सिन्हा बता पाएंगे कि फ्रांस, इग्लैंड, अमेरिका, इटली आदि विकसित पूंजीवादी देशों में पवित्र बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की निरंतरता बिना सजातीय विवाह की परंपरा के कैसे कायम है? और देखें! अभिनव सिन्हा लिखते हैं:

"...हमारे विचार में किसी भी दौर के **पभावी उत्पादन सम्बन्ध और प्रभावी उत्पादन पद्धति** ही हैं, जिनके साथ जाति व्यवस्था का आर्टिकुलेशन होता है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 102)

यहां प्रश्न फिर यही पैदा होता है कि यदि भारत का औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में यहां क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग द्वारा क्रांतिकारी ढंग से क्रांतिकारी पूंजीवादी जनवाद अस्तित्व में आता जिसके फलस्वरूप जाति व्यवस्था ध्वस्त ही हो जाती तो फिर जाति व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने के बाद उस क्रांतिकारी पूंजीवादी जनवाद और उसकी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के पास जाति व्यवस्था का क्या बचा रह जाता जिसक साथ उसका आर्टिकुलेशन होता? अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"अब इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यदि सजातीय विवाह की परम्परा की जांच करें तो वह पूंजीवाद की सेवा करती है और केवल विचारधारात्मक या राजनीतिक अर्थों में नहीं, बल्कि आर्थिक अर्थों में भी। इसलिए जाति व्यवस्था का यह आयाम स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार, यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, का एक अंग है।" (पृष्ठ-31/65)

सवाल फिर वही खड़ा होता है कि यदि भारत का औपनिवेशिकरण न होता और इसके सामंती गर्भ से एक क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग का उदय होता और वह पूंजीवादी जनवादी क्रांति की चोट से जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर देता तो फिर जाति व्यवस्था के सजातीय विवाह वाले 'आयाम' का क्या बनता जिसे आज अभिनव सिन्हा पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के कुल योग का एक अंग बना रहे हैं? क्या अभिनव सिन्हा इन विरोधाभासी दो अवस्थितियों की कोई युक्तियुक्त व्याख्या कर सकते हैं? यदि जाति व्यवस्था औपनिवेशिकरण न होने की स्थिति में ध्वस्त ही हो जाती तो क्या अभिनव सिन्हा यह कह पाते कि जाति व्यवस्था वर्ग विभाजन और राज्य के खात्मे के साथ खत्म होगी?

जहां तक जाति व्यवस्था के संबंध में हमारी अवस्थिति की बात है तो हम इस बात से सहमत हैं कि भारत यदि उपनिवेश न बनता तो एक क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग का उदय होता और पूंजीवादी जनवादी

क्रांति की चोट से जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाती। पर यह तो तभी हो पाता जब यूरोप से पहले या साथ ही साथ भारत में उत्पादक शक्तियों का विकास होता और यूरोप से पहले भारत एक पूंजीवादी देश बन जाता। पर यह अवस्थिति बेशक एक ख्वाहिश पर आधारित है, इतना जरूर सिद्ध कर देती है कि जाति व्यवस्था वर्गों और राज्य के खात्मे से पहले ही ध्वस्त हो जाती। अत: आज पूंजीवादी व्यवस्था की अधिरचना में जाति व्यवस्था की जो प्रबल मानसिकता तथा सजातीय विवाह आदि की परंपरा मौजूद है उसका कारण सिर्फ यही है कि भारत में पूंजीवाद पुरानी व्यवस्था पर क्रांतिकारी प्रहार के जरिए अस्तित्व में न आकर एक प्रतिक्रियावादी समझौतावादी पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में कायम हुआ।

4.

अभिनव सिन्हा की 'जाति-व्यवस्था की अवधारणा' सारसंग्रहवादी है, द्वन्द्ववादी नहीं

अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के 'तीन मूल आयाम' गिनाते हुए लिखते हैं:

"इतना स्पष्ट है कि गुप्त काल से पहले ही, जो कि भारतीय इतिहास में सामंती उत्पादन सम्बन्धों की शुरुआत का दौर है, वर्ण-जाति व्यवस्था के **तीन मूल आयाम** पैदा हो चुके थे: आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता तथा खान-पान सम्बन्धी पूर्वाग्रह।" (पेज 24/65, जोर हमारा)

असल में अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के इस मूल सिद्धांत का नहीं समझते कि किसी समाज व्यवस्था को 'तीन मूल आयामों' के आधार पर परिभाषित करना ही सारसंग्रहवाद होता है। जाति व्यवस्था के ये 'तीन आयाम' क्या तीन समानांतर दीवारें हैं जिन पर जाति व्यवस्था खड़ी है? द्वन्द्ववाद समानांतर आयामों की अवधारणा को ही रद्द करता है क्योंकि यह अधिभूतवादी और सारसंग्रहवादी अवधारणा है। इस विषय में स्टालिन ने समझाया है कि:

"अधिभूतवाद के विपरीत, द्वन्द्ववाद प्रकृति को वस्तुओं का आकस्मिक संग्रह नहीं मानता, उसे एक-दूसरे से विछिन्न, एक-दूसरे से अलग और स्वतंत्र घटना-प्रवाह नहीं मानता। उसके अनुसार, प्रकृति एक सुसम्बद्ध और अविछिन्न इकाई है जिसमें वस्तुएं, घटना-प्रवाह एक-दूसरे से आंतरिक रूप से संबंधित हैं, एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक-दूसरे की रूपरेखा निश्चित करती हैं।" (बोल्शेविक पार्टी का इतिहास, अनुवाद रामविलास शर्मा, पृष्ठ 111)

अत: जब यह कहा जाता है कि वस्तुएं आंतरिक रूप से एक दूसरे से संबंधित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं तो इससे अनिवार्य तौर पर यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी प्रक्रिया अथवा व्यवस्था में कोई एक पहलू ऐसा है जिस पर बाकि अन्य सभी पहलू निर्भर करते हैं। इसलिए द्वन्द्ववादी चिंतन प्रणाली मं किसी एक प्रक्रिया अथवा व्यवस्था के जितने भी लक्षण अथवा पहलू हों उनमें कोई एक पहलू आधारभूत पहलू का काम करता है। फर्ज़ करें कि किसी भौतिक अथवा सामाजिक व्यवस्था के तीन आयाम अथवा पहलू हैं, तो क्योंकि वे तीनों आंतरिक रूप से एक दूसरे से जुड़े हैं आर एक दूसरे पर निर्भर हैं तो फिर उन तीनों में से कोई दो पहलू अवश्य अनिवार्य तौर पर तीसरे पर निर्भर होंगे और तीसरे को प्रभावित भी करेंगे अथवा तीनों ही किसी अन्य की उपज होते हैं जिस पर कि पूरी व्यवस्था आधारित होती है। अब यदि उस व्यवस्था का

वह आधारभूत पहलू ढह जाता है तो फिर वह व्यवस्था ही ढह जाती है और उसके बाद उस व्यवस्था का जो कुछ बचा रहता है वह उस व्यवस्था का अवशेष कहलाता है। क्योंकि बाकि जो बचता है उस पर व्यवस्था खड़ी नहीं रह सकती है। जिस पहलू पर व्यवस्था खड़ी थी जब वही ढह जाए तो व्यवस्था के खड़े रहने का आधार ही नहीं बचता। अत: द्वन्द्ववादी चिंतन प्रणाली की एक आधारभूत शिक्षा यह है कि किसी भी प्रक्रिया के अध्ययन-विश्लेषण करते हुए उस प्रक्रिया की आधारभूत चारित्रिक अभिलाक्षिणता का पता लगाया जाए। माओ-त्से-तुंग अपने निबंध *अन्तरविरोध के बारे में* क अनुभाग 4 में लिखते हैं:

"किसी वस्तु के विकास की जटिल प्रक्रिया में अनेक अन्तरविरोध होते हैं; इनमें अनिवार्य रूप से एक प्रधान अंतरविरोध होता है जिसका अस्तित्व और विकास अन्य अंतरविरोधों के अस्तित्व और विकास को निर्धारित या प्रभावित करता है।"

द्वन्द्ववादी चिंतन पणाली की माओ द्वारा दी गई यह शिक्षा एकदम बुनियादी है और इसका उल्लंघन द्वन्द्ववाद का उल्लंघन है। यदि कोई यह कहे कि किसी वस्तु के विकास की जटिल प्रक्रिया में एक से अधिक अंतरविरोध उस प्रक्रिया के प्रधान अन्तरविरोध होने का काम करते हैं और यदि एक प्रधान अन्तरविरोध ढह जाए तो दूसरे अन्तरविरोध पर प्रक्रिया चलती रहेगी तो वह व्यक्ति द्वन्द्ववादी नहीं बल्कि अधिभूतवादी और सारसंग्रहवादी माना जाएगा। द्वन्द्ववाद एकोद्भव (monogenesis) के सिद्धांत पर आधारित होता है। लेनिन ने मार्क्स की आर्थिक शिक्षा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "पूंजीवादी समाज में **माल**-उत्पादन का बोलबाला होता है, इसलिए मार्क्स का विश्लेषण माल के विश्लेषण से शुरु होता है।" (मार्क्सवाद के ऐतिहासिक विकास की कुछ विशेषताएं, पृष्ठ 40) इस प्रकार मार्क्स या लेनिन ने पूंजीवादी व्यवस्था को परिभाषित करते हुए कहीं भी तीन या चार आयाम नहीं गिनाए। मार्क्स के पहले के पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री मुनाफा, लगान और ब्याज को समानांतर चीजें समझते थे और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की स्वाभाविक देन के रूप में समझते थे। यह सारसंग्रहवाद था। और जब मार्क्स ने प्रमाणित किया कि ये तीनों ही अतिरिक्त मूल्य की पैदाइश हैं और अतिरिक्त मूल्य का ही बंटवारा है तो इस संबंध में सारसंग्रहवाद की जगह द्वन्द्ववाद ने ले ली। हेगेल से पहले प्राकृतिक, सामाजिक आदि परिघटनाओं का अध्ययन और उनके कारणों की खोजबीन में अधिभूतवादी और सारसंग्रहवादी चिंतन प्रणाली का बोलबाला था। आधुनिक काल में हेगेल ने ही चिंतन की द्वन्द्ववादी विधि की स्थापना की, पर यह विधि भाववाद पर आधारित थी। एंगेल्स लिखते हैं:

"...हेगेल ने इतिहास को अधिभूतवाद से मुक्त किया, उन्होंने उसे द्वन्द्ववादी रूप दिया, परंतु इतिहास की उनकी धारणा मूलत: भाववादी थी। भाववाद का अंतिम आश्रय इतिहास की दार्शनिक धारणा था, पर अब वह आश्रय भी जाता रहा; अब इतिहास की एक भौतिकवादी विवेचना प्रस्तुत की गयी।..." (मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएं, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 164, रेखांकन जोड़ा गया)

क्या अभिनव सिन्हा चार लाइनें लिख कर यह बता सकते हैं कि हेगेल ने इतिहास को अधिभूतवाद से कैसे मुक्त किया और उन्होंने उसे द्वन्द्ववादी कैसे बनाया? यदि वह इसे सही-सही बता सके तो फिर वह यह नहीं कह पाएंगे कि 'जाति व्यवस्था के तीन आयाम है, जिन पर वह खड़ी है'। क्योंकि ऐसा कहना हेगेल द्वारा

स्थापित उस द्वन्द्ववादी विधि के विपरीत होगा जिस विधि से उन्होंने इतिहास को समझा और एंगेल्स के अनुसार उसे अधिभूतवाद से मुक्त किया। असल बात यह है कि हेगेल से पहले इतिहास को अधिभूतवादी और सारसंग्रहवादी नजरिये से ही समझा व जाना जाता था, जैसे कि ऐसे समझना कि समाज के चार आयाम हैं धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक। और इन चारों के अन्तर्संबंध और इनकी अंतरनिर्भरता को न समझना। यह न समझना कि इन चार पहलुओं में कौन-सा पहलू आधारभूत है जिससे बाकि तीन जन्म लेते हों और निर्धारित होते हों और वे फिर आधारभूत पहलू को भी प्रभावित करते हों। यानी इतिहास की विविधता के पीछे छुपी एकता की जानकारी नहीं थी। हेगेल ने उस एकता का यानी विभिन्न पहलुओं की अन्तरनिर्भरता का पता लगाया, सभी पहलुओं को एक जैविक इकाई के तौर पर एकताबद्ध किया लेकिन भाववादी आधार पर। कार्ल मार्क्स ने इतिहास के सभी पहलुओं की एकता के भौतिकवादी आधार का पता लगाया। एंगेल्स *कम्युनिस्ट घोषणापत्र, 1883 के जर्मन संस्करण की भूमिका* में लिखते हैं:

" 'घोषणापत्र' में शुरु से लेकर आखिर तक विद्यमान मूल चिंतन, यह चिंतन विशुद्ध रूप से मार्क्स का है कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग का आर्थिक उत्पादन तथा उससे अनिवार्यत: उत्पन्न होने वाला सामाजिक ढांचा उस युग के राजनीतिक तथा बौद्धिक इतिहास की आधार-शिला हुआ करते हैं;..."

एंगेल्स *1888 के अंग्रेजी संस्करण की भूमिका* में फिर दोहराते हैं:

"चूंकि 'घोषणापत्र' हमारी संयुक्त रचना है, इसलिए मैं यह कहने के लिए अपने को वचनबद्ध समझता हूं कि इसमें आधारभूत प्रस्थापना, जो इसका नाभिक है, मार्क्स की ही है। वह प्रस्थापना यह है कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग का आर्थिक उत्पादन तथा विनिमय का प्रचलित ढंग तथा उससे अनिवार्यत: उत्पन्न होने वाली सामाजिक संरचना उस आधार का निर्माण करती है जिस पर उस युग के राजनीतिक तथा बौद्धिक इतिहास का निर्माण होता है और जिसके बल पर ही उस पर प्रकाश डाला जा सकता है;..."

ऊपर दिए गए दोनों उद्धरण इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और उसे समझने की द्वन्द्ववादी विधि को समझने के लिए पर्याप्त हैं। यानी किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था अथवा किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग को भौतिकवादी और द्वन्द्ववादी नजरिए से समझने के लिए उस विशिष्ट व्यवस्था अथवा युग के विभिन्न आयामों अथवा पहलुओं का योग नहीं, कि फलां तीन पहलू अथवा फलां चार पहलू, बल्कि उस आधारभूत पहलू का पता लगाना अनिवार्य होता है जिस पर अन्यों की निर्भरता होती है। खुद द्वन्द्ववाद के तीन मुख्य नियम भी अन्तर्संबंधित और अन्तरनिर्भर हैं।

लनिन को उद्धृत करते हुए माओ-त्से-तुंग ने अपने निबंध *अन्तरविरोध के बारे में* का आरंभ इस प्रकार किया:

"वस्तुओं में अन्तरविरोध का नियम, यानी विपरीत तत्वों की एकता का नियम, भौतिक द्वन्द्ववाद का सबसे बुनियादी नियम है। लेनिन ने कहा था: 'वास्तविक अर्थ में, पदार्थों की मूल वस्तु में निहित अन्तरविरोध का अध्ययन ही द्वन्द्ववाद है।' लेनिन प्राय: इस नियम को द्वन्द्ववाद की मूल वस्तु बतलाते थे; उन्होंने इसे द्वन्द्ववाद का केन्द्र भाग भी कहा है।"

पूरी तरह स्पष्ट है कि द्वन्द्ववाद के तीन मुख्य नियम भी अन्तसंबंधित और अन्तरनिर्भर हैं जिनमें से एक नियम यानी विपरीतों की एकता का नियम आधारभूत है जिस पर अन्य दो नियम यानी मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और विपरीत क्रम में भी तथा निषेध का निषेध पूरी तरह आश्रित हैं एवं अपनी बारी में विपरीतों की एकता और संघर्ष को प्रभावित करते हैं और आगे बढ़ाते हैं। विपरीतों की एकता और संघर्ष के नियम के बिना न तो दूसरे दो नियम अपने बलबूते खड़े रह सकते और न ही पूरा का पूरा द्वन्द्ववाद। लेकिन 'मजदूर बिगुल' के सम्पादक और उनके अन्य नेताओं की ओर से ऐसा किसी भी जगह पर स्पष्ट नहीं किया गया कि जाति व्यवस्था के 'तीन मूल आयामों' में से ऐसा कौन-सा आधारभूत आयाम है जिसके आधार पर पूरी की पूरी जाति व्यवस्था खड़ी हो तथा अन्य दो आयाम भी उस पर आश्रित हों। अगर जाति व्यवस्था के 'तीन मूल आयाम' एक दूसरे से स्वतंत्र तथा समानांतर हों तब जाति व्यवस्था की इन तीन आयामों पर टिकी अवधारणा द्वन्द्ववादी न होकर एक सारसंग्रहवादी अवधारणा में तब्दील हो जाएगी। और सिर्फ इतना ही कहना कि ये 'तीन आयाम' परस्पर अन्तसंबंधित हैं काफी नहीं है जब तक साथ में यह न जोड़ा जाए कि ये तीनों अन्तरनिर्भर भी हैं और इनमें से कोई एक जाति व्यवस्था का आधार है अथवा तीनों ही किसी एक अन्य की उपज हैं जिसके बिना जाति व्यवस्था खड़ी ही नहीं रह पाएगी। अपने 'शोध पेपर' में अभिनव सिन्हा लिखते हैं:

"एक बात स्पष्ट है। पूंजीवाद और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों के विकास के साथ, और साथ ही शहरीकरण के आगे बढ़ने के साथ **जाति के दो पहलू समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं**। पहला, आनुवंशिक श्रम विभाजन। अब जन्म के आधार पर किसी के कार्य या पेशे को निर्धारित करने की बात करना दूर की कौड़ी हो गयी है। बहुत से स्वरोजगार के पेशों में अभी भी जातिगत चरित्र दिखता ह, जैसे कि नाई, धोबी आदि। **लेकिन यह अब रूढ़ श्रम विभाजन नहीं है, जिसे कि लांघा न जा सके**। दूसरी बात, अब खान-पान को लेकर पूर्वाग्रह भी काफी हद तक टूटे हैं, क्योंकि नये किस्म के गांवों में उनका उसी रूप में बने रहना संभव नहीं है, और शहर में तो उनका पूरो तरह टूट जाना अवश्यम्भावी है। हम कह सकते हैं कि जाति की ये दो पंजिकाएं अब इतनी धूमिल हो चुकी हैं, कि उन्हें कुछ समय में लुप्त प्रायः कह सकेंगे। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति और उत्पादन संबंधों के साथ जाति के ये पहलू मेल नहीं खाते हैं, इसलिए पूंजीवाद के साथ उनको यही नियति थी।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 133, शब्दों पर जोर हमारा)

यहां भी अभिनव सिन्हा ने यह तो बताया कि जाति व्यवस्था के तीन बुनियादी पहलुओं में से दो पहलू यानी आनुवांशिक श्रम विभाजन और अस्पृश्यता अपने समापन की ओर है पर यहां भी यह खुलासा नहीं किया कि आखिर तीनों में से वह कौन-सा आधारभूत पहलू है जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी है क्योंकि किसी भी व्यवस्था की सही-सही द्वन्द्ववादी समझ के लिए आधारभूत पहलू का पता लगाना अनिवार्य होता है। लेकिन अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था को 'तीन मूल आयामों' पर भी खड़ी कर सकते हैं, 'दो मूल आयामों' पर भी और 'एक मूल आयाम' पर भी। जैसे कि उनके अनुसार वर्तमान 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' अब महज़ 'एक मूल आयाम' पर ही खड़ी है और वह मूल आयाम है सजातीय विवाह की परंपरा। अपने द्वारा जारी किए गए 65 पृष्ठीय दस्तावेज में भी एक जगह वे लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था का अर्थ केवल आनुवांशिक श्रम विभाजन ही नहीं है, बल्कि सजातीय विवाह की व्यवस्था, अस्पृश्यता और साथ ही संस्तरीबद्ध असमानता की व्यवस्था भी है। **जाति पर आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ मूलतः और मुख्यतः टूट चुका है** और यह स्वाभाविक ही है। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के साथ जाति व्यवस्था का जो आयाम मेल नहीं खायेगा या उसके साथ अन्तरविरोध में होगा, उसका मूलतः और मुख्यतः समाप्त हो जाना लाजिमी है।" (पेज 31/65, जोर हमारा)

यहां भी अभिनव सिन्हा ने यह तो पूरी तरह मान लिया जाति पर आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ मूलतः और मुख्यतः टूट चुका है और सजातीय विवाह का पहलू अभी बना हुआ है लेकिन यहां भी नहीं बताया गया कि जाति व्यवस्था का वह कौन सा पहलू है जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी है और जिसके टूट जाने से जाति व्यवस्था, जाति व्यवस्था ही नहीं रहेगी बल्कि जो बचेगा वह उसका अवशेष मात्र होगा। इस तरह हर जगह जाति व्यवस्था के तीन या चार पहलुओं या आयामों की बात करना और यह न बताना कि वह कौन सा एक आयाम/पहलू है जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी है, एक सारसंग्रहवादी चिंतन-विधि के अलावा और कुछ नहीं है, द्वन्द्ववादी तो कतई नहीं। देखें! मार्क्स ने भारत में जाति-व्यवस्था के आधार को आनुवांशिक अथवा पुश्तैनी श्रम बताते हुए क्या लिखा है:

"रेल व्यवस्था से उत्पन्न होकर आधुनिक उद्योग **पुश्तैनी श्रम विभाजन** को ख़त्म कर देगा, **जिस पर भारत की जात-पांत व्यवस्था खड़ी है** और जो भारत की उन्नति तथा शक्ति के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावट है।" (*भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम*, जोर हमारा)

क्या मार्क्स यहां गलती पर हैं जब वे लिख रहे हैं कि भारत की जात-पांत वाली व्यवस्था पुश्तैनी श्रम विभाजन पर खड़ी है? नहीं। द्वन्द्ववाद का यही तकाजा है कि किसी भी व्यवस्था की मूल अभिलाक्षणिकता का पता लगाया जाए और उसे सामने लाया जाए। मार्क्स सारसंग्रहवादी नहीं है कि किसी भी व्यवस्था को वे कहें कि वह दो, तीन या चार आयामों पर खड़ी है। लेनिन ने पूंजीवादी व्यवस्था की मूलभूत चीज़ के बारे में मार्क्स की *पूंजी* का संदर्भ देते हुए लिखा:

"अपनी 'पूंजी' कृति में मार्क्स सबसे पहले पूंजीवादी (माल) समाज के सबसे सरल, सबसे साधारण, मूलभूत, सबसे आम तथा दैनंदिन **सम्बन्ध** का, ऐसे सम्बंध का विश्लेषण करते हैं जिसका करोड़ों-करोड़ बार सामना करना पड़ता है: यह है माल का विनिमय। विश्लेषण इस अत्यंत सरल परिघटना में (पूंजीवादी समाज की इस 'कोशिका' में) आधुनिक समाज के **सारे** अन्तर्विरोधों (अथवा **सारे** अन्तर्विरोधों के बीच) को उजागर करता है। आगे का प्रतिपादन हमें इन अन्तर्विरोधों का तथा इस समाज का उसके पृथक-पृथक भागों का कुल मिलाकर विकास (संवृद्धि तथा गति **दोनों**) बताता है।" (द्वन्द्ववाद के प्रश्न के सम्बन्ध में)

अभिनव सिन्हा को द्वन्द्ववाद की इन मूल शिक्षाओं को पढ़ना और समझना चाहिए। पूंजीवादी व्यवस्था के अनेक पहलू गिनाए जा सकते हैं लेकिन मार्क्स-एंगेल्स ने पूंजीवाद अथवा पूंजीवादी व्यवस्था को मात्र पूंजीवादी स्वामित्व अथवा पूंजीवादी निजी संपत्ति पर ही आधारित समाज व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया

है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के खात्मे के साथ पूंजीवादी व्यवस्था अथवा पूंजीवाद के खात्मे का सवाल जुड़ा हुआ है। मार्क्स-एंगेल्स *कम्युनिस्ट घोषणापत्र, 1882 के दूसरे रूसी संस्करण की भूमिका* में लिखते हैं:

" 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' ने आधुनिक पूंजीवादी स्वामित्व के अवश्यम्भावी आसन्न विघटन की उद्घोषणा को अपना लक्ष्य बनाया था।"

यानी अभिनव सिन्हा की भाषा में पूंजीवादी शोषणमूलक व्यवस्था के जितने भी 'आयाम' हैं मार्क्स और एंगेल्स की द्वन्द्ववादी दृष्टि से वे सारे के सारे एक ही 'आयाम' की उपज हैं यानी मात्र पूंजीवादी स्वामित्व की उपज हैं, पूंजीवादी स्वामित्व के बिना न तो पूंजीवाद के कोई 'आयाम' खड़े रह सकते और न ही खुद पूंजीवाद। लेकिन अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था का 'तीन मूल आयामों' के आधार पर वर्णन करते हैं। उनकी कल्पित जाति व्यवस्था के 'तीन आयाम' किसी सांझे स्रोत की उपज न होकर इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ अस्तित्व में आये और विकसित हुए। देखें अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में इस बारे वे क्या लिखते हैं:

"जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसके ऐतिहासिक तौर पर तीन बुनियादी आयाम हैं, जो कि इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अस्तित्व में आये, विकसित हुए और उनमें से कुछ आयाम बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ ही खत्म हुए या खत्म होने की ओर अग्रसर हुए; ये तीन आयाम हैं आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता। इनमें से दो आयाम, यानी आनुवांशिक श्रम विभाजन और सजातीय विवाह समाज में मौजूद सम्पत्ति सम्बन्धों व श्रम विभाजन की सरंचना को प्रभावित करते हैं और एक दौर में उन्हें काफी हद तक निर्धारित करते थे।" (पेज 28-29/65)

उद्धृत की गयी इन पंक्तियों में द्वन्द्ववाद कहीं आस-पास भी दिखायी नहीं देता। लेकिन अभिनव सिन्हा इसे ही द्वन्द्ववादी दृष्टि मानते हैं। जाति व्यवस्था के प्रति द्वन्द्ववादी दृष्टि तब होगी जब अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के तथाकथित तीन आयामों का उद्भव मात्र एक स्रोत से दिखाने में कामयाब होंगे अथवा इन 'तीन आयामों' में से किसी एक को आधारभूत सिद्ध कर पाएंगें जिस पर पूरी की पूरी जाति व्यवस्था खड़ी हो जैसा कि मार्क्स ने ऊपर दिए उद्धरण में दिखाया कि भारत की जाति व्यवस्था पुश्तैनी श्रम के आधार पर खड़ी है। अत: अभिनव सिन्हा का द्वन्द्ववाद से कोई लेना देना नहीं और उनकी चिंतन प्रणाली पूरी तरह सारसंग्रहवाद पर खड़ी है।

5.

उत्पादन संबधों के कुल योग की मार्क्सीय अवधारणा बारे

अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम लिखती है :

"...जाति सामंती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूंजीवाद ने अपने ढांचे के साथ तंतुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। **यह एक पूंजीवादी**

जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) में सावयवी (organic) ढंग से गुंथी-बुनी ह तथा वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, जनवरी 2014, पृष्ठ 16-17, जोर हमारा)

बहस का मुख्य प्रश्न यह है कि क्या जाति व्यवस्था वर्तमान पूंजीवादी समाज के आर्थिक मूलाधार यानी इसके उत्पादन-संबंधों के कुल योग का हिस्सा है या नहीं? अभिनव और उनके दल का कहना है कि जाति व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था के आर्थिक मूलाधार में एक हिस्सा है। हमारा कहना है कि जाति व्यवस्था के अब मात्र अवशेष बचे हैं जिन्हें पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मूलाधार यानी इसके उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा बताया जाना ऐतिहासिक भौतिकवाद के खिलाफ है। इस संबंध में हमने पहले जारी किए गए अपने 25 पृष्ठीय दस्तावेज़ में कार्ल मार्क्स का एक उद्धरण दिया था जिसे गलती से एंगेल्स का उद्धरण लिख दिया गया था, उसी उद्धरण के आधार पर हम अपनी चर्चा को आगे बढ़ाएंगे। उद्धरण निम्न प्रकार से है:

"...अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंधों में बंधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की **एक निश्चित मंजिल के अनुरूप** होते हैं। इन उत्पादन संबंधों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है–वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।..." (*राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास* की भूमिका, जनवरी 1859)

ऐतिहासिक भौतिकवाद की मार्क्स द्वारा खोजी हुई एक बुनियादी बात यह है कि उत्पादन संबंधों को उत्पादन शक्तियों के अनुकूल होना पड़ता है। यदि उत्पादन शक्तियां आगे बढ़ जाएं और उत्पादन के संबंध पिछड़े ही रह जाएं तो वे उत्पादन संबंध उत्पादन की शक्तियों के पांव की बेड़ियां बन जाते हैं और उन्हें अनिवार्य तौर पर हटना पड़ता है तथा उनकी जगह उत्पादन के नए संबंधों को लेनी होती है जो उत्पादन की शक्तियों के अनुकूल होत हैं। सामंती समाज को इसलिए जाना पड़ा कि उस समाज के उत्पादन के संबंध आगे बढ़ी हुई उत्पादन की शक्तियों के पैरों में बेड़ियां बन गए थे, यानी सामंती उत्पादन संबंधों का नयी विकसित उत्पादन शक्तियों के साथ मेल नहीं रह गया था, उनके अनुकूल नहीं रह गये थे। अत: ऊपर दिए गए मार्क्स के उद्धरण में जो यह कहा गया है कि 'उत्पादन के ये संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की **एक निश्चित मंजिल के अनुरूप** होते हैं', का अर्थ यही है कि समाज की एक निश्चित मंजिल का आर्थिक ढांचा उस मंजिल के अनुरूप यानी उस मंजिल की उत्पादक शक्तियों से मेल खाने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग से ही निर्मित होता है, उस मंजिल से बेमेल उत्पादन संबंध उस मंजिल के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं होते। राजनीतिक अर्थशास्त्र के एक शब्दकोश में बहुत ही सटीक ढंग से लिखा है कि ऐतिहासिक रूप से प्रत्येक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का अपना एक विशिष्ट उत्पादन संबंधों का कुल योग होता है जो एक जैविक इकाई का निर्माण करते हैं। देखें:

"Each historically distinct mode of production has its own totality of production relations forming a single, integral system." (A Dictionary of Political Economy, Progress Publishers Moscow 1985, page 306)

लेकिन 'बिगुल' वाले मार्क्स द्वारा कही गयी इतनी स्पष्ट बात को भी उलझा देने पर तुले हुए हैं। उनका कहना है कि किसी समाज व्यवस्था की समूची भौतिक प्रक्रिया में जो भी उत्पादन संबंध मौजूद हैं चाहे वे अतीत के हों चाहे वर्तमान के, सभी संबंध मिलकर किसी समाज के मूलाधार यानी आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं चाहे वे उत्पादन संबंध उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के यानी उस व्यवस्था की उत्पादन शक्तियों के अनुकूल हों या न हों। पर सवाल यह है कि यदि समाज व्यवस्था की समूची भौतिक प्रक्रिया में अतीत की समाज व्यवस्थाओं के अवशेष पड़े हों जिनका वर्तमान उत्पादन की शक्तियों से कोई मेल नहीं रह गया बल्कि वे उत्पादक शक्तियों के विकास में बेड़ियां बन चुके हैं, यदि उत्पादक शक्तियों से बेमेल ऐसे उत्पादन संबंध भी किसी निश्चित मंजिल के समाज के आर्थिक मूलाधार का हिस्सा बनेगें तो फिर मार्क्स के ऊपर दिए गए उद्धरण में '**एक निश्चित मंजिल के अनुरूप**' वाक्यांश का क्या अर्थ रह जाता है? क्या कार्ल मार्क्स खुद यह नहीं कह सकते थे कि किसी समाज व्यवस्था की समूची भौतिक प्रक्रिया अथवा उत्पादन प्रक्रिया में जो भी उत्पादन संबंध विद्यमान हैं वे सब मिलकर समाज के मूलाधार का निर्माण करते हैं?

'बिगुल' वालों ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में मार्क्स के *क्रिटीक ऑफ पोलिटिकर इकॉनमी,* मार्ता आर्नेकर द्वारा *मोड ऑफ प्रोडक्शन, सोशल फॉर्मेशन एण्ड पोलिटिकल कंजंक्चर* में से उद्धृत किया है जिसे हम भी सही मानते हैं, जो निम्न प्रकार से है:

"हर प्रकार के समाज में **यह निर्धारक उत्पादन और उसके सम्बंध** होते हैं, जो अन्य सभी उत्पादनों और उनसे पैदा होने वाले उत्पादन संबंधों को उनका स्थान और उनका महत्व नियत करते हैं।" (पेज 50/65, जोर हमारा)

क्या मार्क्स का यह उद्धरण ऊपर दिए गए उनके उद्धरण के विरोध में है या उसी की पुष्टि करता है? मार्क्स ने तो यहां किसी अर्थव्यवस्था में मौजूद तमाम उत्पादन संबंधों और उत्पादनों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। पहले भाग में किसी समाज व्यवस्था का **निर्धारक उत्पादन और उसके संबंध** रखे हैं तथा दूसरे भाग में वे उत्पादन और उनके उत्पादन संबंध रखे हैं जिनके स्थान और महत्व को पहले भाग वाले उत्पादन संबंध निर्धारित करते हैं। अर्थात् किसी समाज व्यवस्था में मौजूद सभी उत्पादन संबंधों का बराबर का दर्जा नहीं है। कुछ उत्पादन संबंध हैं जो प्राथमिक हैं, निर्धारक हैं और कुछ दूसरे हैं जो गौण हैं जो निर्धारक उत्पादन संबंधों से निर्धारित होते हैं। प्राथमिक अथवा निर्धारक उत्पादन संबंधों का कुल योग ही किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के आर्थिक मूलाधार की रचना करते हैं क्योंकि वे उत्पादन संबंध ही उस समाज व्यवस्था की उत्पादक शक्तियों की निश्चित मंजिल के अनुकूल हैं, बाकी बचे सभी अतीत की व्यवस्थाओं के उत्पादन संबंध और उत्पादन विधियां क्योंकि उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के अनुकूल नहीं रह गये हैं इसलिए वे उत्पादन संबंध उस विशिष्ट समाज व्यवस्था के मूलाधार का हिस्सा तो

नहीं रहते पर समाज की समूची उत्पादन प्रक्रिया के भीतर हैं। उदाहरण के तौर पर वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था उत्पादन संबंधों के जिस कुल योग पर आधारित है वह कुल योग खुद पूंजी और श्रम के अन्तरविरोध पर आधारित है और इस कुल योग में आदिवासी उत्पादन और उसके उत्पादन सम्बन्ध शरीक नहीं हो सकते। इन दो प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का पारस्परिक संबंध वही है जो अभिनव सिन्हा ने मार्क्स के हवाले से ऊपर लिखा यानी निर्धारक उत्पादन संबंध और उनके द्वारा निधारित उत्पादन संबंध। निर्धारक और निर्धारित उत्पादन संबंधों के अन्तर्सम्बन्ध का मायने ठीक वही है जिस प्रकार का कि किसी प्रक्रिया अथवा व्यवस्था में उसके प्रधान अन्तर्विरोध और गौण अन्तर्विरोधों के बीच होता है। इस संबंध में माओ-त्से-तुंग अपने निबंध *अन्तरविरोध के बारे में* के अनुभाग 4 में लिखते हैं:

"किसी वस्तु के विकास की जटिल प्रक्रिया में अनेक अन्तरविरोध होते हैं; इनमें अनिवार्य रूप से एक प्रधान अंतरविरोध होता है जिसका अस्तित्व और विकास अन्य अंतरविरोधों के अस्तित्व और विकास को निर्धारित या प्रभावित करता है।"

अत: जिस प्रकार किसी प्रक्रिया के गौण अन्तर्विरोधों को प्रधान अन्तर्विरोध का दर्जा प्राप्त नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार किसी समाज व्यवस्था में उस व्यवस्था के मूलाधार के बाहर के उत्पादन संबंधों को वह दर्जा हासिल नहीं हो सकता जो दर्जा उन उत्पादन संबंधों के कुल योग का होता है जो उस व्यवस्था के आर्थिक ढांचे यानी मूलाधार की रचना करते हैं। किसी समाज व्यवस्था में उस व्यवस्था के प्रधान अन्तर्विरोध से ही यह तय होता है कि उस व्यवस्था के मूलाधार अथवा आर्थिक ढांचे को कौन चीज अथवा किन-किन उत्पादन संबंधों का कुल योग निर्मित करेगा। देखें एंगेल्स, मार्क्स की रचना *उजरती श्रम और पूंजी* की सन् 1891 के संस्करण की भूमिका में इस संबंध में क्या लिखते हैं:

"अच्छे से अच्छे अर्थशास्त्री 'श्रम' के मूल्य से आरंभ करने पर जिस कठिनाई में फंस कर रह जाते थे, वह 'श्रम' के बजाय '**श्रम-शक्ति**' से आरंभ करत ही तुरन्त गायब हो जाती है। आजकल के हमारे पूंजीवादी समाज में अन्य किसी भी माल की तरह, श्रम-शक्ति भी एक माल है, और फिर भी वह एक अत्यंत विशिष्ट प्रकार का माल है। उसमें यह विशिष्ट गुण है कि वह मूल्योत्पादक शक्ति है; वह मूल्य का स्रोत है, सचमुच एक ऐसा स्रोत है कि अगर उसका उचित इस्तेमाल किया जाये, तो जितना मूल्य वह स्वयं रखता है उससे भी अधिक मूल्य उत्पन्न कर सकता है। उत्पादन की वर्तमान अवस्था में मानव श्रम-शक्ति दिन भर में न केवल स्वयं अपने मूल्य तथा अपनी लागत से अधिक मूल्य पैदा कर देती है; बल्कि....और आजकल के हमार पूरे समाज का यही आर्थिक ढांचा है: सभी प्रकार का मूल्य केवल मजदूर वर्ग ही उत्पन्न करता है। कारण, मूल्य श्रम का ही दूसरा नाम है,..." (संकलित रचनाएं, खण्ड 1, भाग 1, पृष्ठ 182, रेखांकन जोड़ा गया)

एंगेल्स ने कितने संक्षेप और सारगर्भित ढंग से लिखा कि आजकल के हमारे पूरे समाज का यानी पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा श्रमशक्ति नामक वह माल है जिसका विशिष्ट गुण यह है कि वह अपने मूल्य से अधिक मूल्य पैदा करता है। यही पूंजीवादी समाज का प्रधान अंतर्विरोध है क्योंकि पूंजी श्रम शक्ति के इसी विशिष्ट गुण का लाभ उठाते हुए आगे बढ़ती है। इसी प्रधान अंतर्विरोध यानी श्रम और पूंजी के

अन्तर्विरोध से पैदा होने वाले उत्पादन संबंधों का कुल योग पूंजीवादी समाज के मूलाधार यानी आर्थिक ढांचे का निर्माण करता है जो ढांचा अतीत की व्यवस्थाओं के बचे अवशेषों की नियति को निर्धारित करता है। वैसे भी, पूंजीपति वर्ग ही क्योंकि पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा यानी पूंजीवादी समाज की नींव तैयार करता है इसलिए यह संभव ही नहीं है कि वह पूंजीवादी समाज की नींव में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के इलावा अतीत की किसी अन्य समाज व्यवस्था की नींव के उत्पादन संबंधों का शामिल करे। किसी समाज व्यवस्था का आर्थिक ढांचा उस व्यवस्था के शासक वर्ग के हितों के अनुकूल ही बनता है और सामंती समाज का आर्थिक ढांचा यानी सामंती उत्पादन संबंध पूंजीपति वर्ग की उत्पादन और शोषण प्रणाली के अनुकूल नहीं होते। इसीलिए तो पूंजीपति वर्ग सामंती आर्थिक ढांचे को ध्वस्त करके समाज व्यवस्था को अपने हितों के अनुकूल एक नये ढांचे पर खड़ा करता है। हालांकि पूंजीवादी समाज व्यवस्था का यह ऊपर वर्णित आर्थिक ढांचा सामंती आर्थिक ढांचे के गर्भ से ही जन्म लेता है और सामंती आर्थिक ढांचे को तहस-नहस कर देता है। एंगेल्स लिखते हैं:

"अब इस बात को प्राय: सभी मानने लगे हैं कि समाज का मौजूदा ढांचा आज के शासक वर्ग, पूंजीपति वर्ग ने ही तैयार किया है। जो उत्पादन प्रणाली पूंजीपति वर्ग के लिए विशिष्ट है, और जो मार्क्स के समय से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के नाम से जानी जाती है, वह सामंती व्यवस्था से मेल नहीं खाती थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्तियों, पूरी सामाजिक श्रेणियों तथा स्थानीय निगमों को दिए जाने वाले जिन विशेषाधिकारों, और ऊंच-नीच के जिन जन्मजात संबंधों से सामंती समाज का ढांचा बनता था, उनसे पूंजीवादी-उत्पादन प्रणाली का कोई सामंजस्य न था। इसलिए पूंजीपति वर्ग ने सामंती व्यवस्था को ढहा दिया और उसके खंडहरों पर पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया;..." (समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक, संकलित रचनाएं, खंड-3, भाग 1, पृष्ठ 166, रेखांकन जोड़ा गया)

अडियल रवैये से मुक्त कोई भी व्यक्ति एंगेल्स के इस उद्धरण से भली भांति समझ सकता है कि सामंती समाज का ढांचा जो ऊंच-नीच वाले जन्मजात संबंधों पर आधारित होता है उसका पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से कोई सामंजस्य नहीं रहता है इसलिए पूंजीपति वर्ग सामंती उत्पादन व्यवस्था को ढहा कर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को स्थापित करता है। जब पूंजीपति वर्ग सामंती उत्पादन संबंधों पर आधारित सामंती समाज को नष्ट ही इस कारण से करता है कि सामंती उत्पादन संबंध पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुकूल नहीं हैं तो फिर ऐसे सामंती उत्पादन संबंधों को वह अपनी विशिष्ट शोषण की उत्पादन प्रणाली के मूलाधार यानी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा कैसे बना सकता है? यह बात दूसरी है कि यदि किसी पूंजीवादी व्यवस्था में शासक पूंजीपति वर्ग के समझौतावादी होने के कारण सामंती व्यवस्था के अवशेष बचे रह जाएं तो जरूर ही वह उनका उपयोग अपने हितों के लिए करेगा, चाहे आप इसे अवशेषों का समायोजित करना कहो, चाहे सहयोजित करना कहो, चाहे तंतुबद्धीकरण करना कहो, ये अवशेष, अवशेष ही कहलाएंगे क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली इन सामंती अवशेषों पर आधारित हो ही नहीं सकती।

असल में, अभिनव सिन्हा, मानव समाज की उत्पादन प्रक्रिया से संबंधित जितने भी प्रकार के आर्थिक संबंध और आर्थिक कारक गिनाए जा सकते हैं उन सभी को ही वे किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के मूलाधार यानी उस विशिष्ट व्यवस्था की निश्चित मंजिल के अनुरूप उत्पादन संबंधों के कुल योग के

साथ गड्ड-मड्ड कर देते हैं। वह सभी आर्थिक संबंधों और कारकों को निश्चित मंजिल वाली किसी विशिष्ट अर्थव्यवस्था के आर्थिक आधार का ही अंग बना देते हैं। वे इस बात में कोई भेद नहीं करते कि उत्पादन की समूचो प्रक्रिया के आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों का दायरा किसी निश्चित समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे यानी उसके अनुरूप उत्पादन संबंधों के कुल योग का दायरा, दो अलग-अलग चीजें हैं। सामाजिक उत्पादन की समूची प्रक्रिया जिन आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों पर टिकी है उनका दायरा बहुत व्यापक है और किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का दायरा उसकी तुलना में छोटा और सीमित है तथा उस व्यापक दायरे के भीतर है। अभिनव सिन्हा ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ के पृष्ठ 54 व 55 पर बी. डब्ल्यू. बॉर्जियस को एंगेल्स द्वारा लिखे पत्र (25 जनवरी 1894) का हवाला दिया जिसमें एंगेल्स ने लिखा कि:

"हम आर्थिक स्थितियों को वे कारक मानते हैं जो अंतत: ऐतिहासिक विकास को निर्धारित करता है। लेकिन नस्ल भी एक आर्थिक कारक है।..."

एंगेल्स ने अपने इसी पत्र में आर्थिक संबंधों, कारकों, स्थितियों के बारे में और भी महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं जो निम्न प्रकार से हैं:

(क) "आर्थिक संबंधों से, जिन्हें हम समाज के इतिहास का निर्णायक आधार मानते हैं, हमारा अभिप्राय वह विधि है, जिसमें समाज विशेष के लोग अपने जीवन निर्वाह के साधनों को उत्पादित करते हैं और एक दूसरे के साथ उत्पादों का विनिमय करते हैं (जहां तक कि समाज में श्रम-विभाजन का अस्तित्व हैं)। इस प्रकार उसमें उत्पादन तथा परिवहन की **सारी तकनीक** शामिल है।"

(ख) "हमारी अवधारणा के अनुसार यही तकनीक विनिमय पद्धति को भी और उत्पादों के वितरण को निश्चित करती है,"

(ग) "आर्थिक संबंधों की अवधारणा में वह **भौगोलिक आधार** भी शामिल है, जिस पर ये संबंध क्रियाशील होते हैं,"

(घ) आर्थिक संबंधों में "आर्थिक विकास की पहले की अवस्थाओं के अवशेष भी हैं,"

(ङ) "...और वह बाह्य परिवेश तो उसमें शामिल है ही, जो समाज के इस रूप के चतुर्दिक व्याप्त है।"

एंगेल्स द्वारा ऊपर गिनाये गये आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों का दायरा उत्पादन के संबंधों के दायरे से कितना व्यापक है इसे बड़ी आसानी से कोई भी समझ सकता है। समाज के चारों ओर व्याप्त बाह्य परिवेश का दायरा भी आर्थिक संबंधों की श्रेणी में गिनाया गया है लेकिन यह मानव-मानव के बीच उत्पादन संबंध तो नहीं है। इसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियां और नस्ल भी आर्थिक कारक अथवा आर्थिक संबंध तो हैं लेकिन उत्पादन के संबंध तो नहीं। कार्ल मार्क्स की रचना *गोथा कार्यक्रम की आलोचना* में बताया है कि श्रम ही सारी संपदा और समस्त संस्कृति का स्रोत नहीं है बल्कि प्रकृति को भी श्रम जितना ही स्रोत कहा जा सकता है, जो स्वयं प्रकृति की एक शक्ति (मानव श्रम-शक्ति) की अभिव्यक्ति मात्र है। लेकिन प्रकृति भी

जो समस्त संपदा और संस्कृति का प्रथम स्रोत है वह सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में आधारभूत एक कारक तो है पर प्रकृति को उत्पादन संबंध नहीं कहा जा सकता। अतः हमें उत्पादन के संबंधों के उस कुल योग, जिससे उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप समाज का आर्थिक ढांचा निर्मित होता है, के साथ प्रकृति, भौगोलिक आधार, बाह्य परिवेश और नस्ल आदि आर्थिक संबंधों अथवा कारकों को गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए। पर ऊपर वर्णित उत्पादन संबंधों, आर्थिक संबंधों/कारकों के अवलोकन से एक चीज कोई भी स्पष्ट रूप में देख सकता है और वह यह है कि सभी आर्थिक संबंध उत्पादन संबंध नहीं होते पर सभी उत्पादन संबंध आर्थिक संबंध होते हैं। एंगेल्स द्वारा ऊपर गिनाये गए आर्थिक संबंधों में इस बहस के निर्णय के लिए सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु (क), (ख) तथा (घ) हैं। बिन्दु (क) में एंगेल्स ने जिन आर्थिक संबंधों की बात की है असल में वे वही उत्पादन संबंधों का कुल योग हैं जो उत्पादन की किसी विशिष्ट पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और बिन्दु (ख) में दर्शाया है कि उत्पादों की विनिमय और वितरण पद्धति उत्पादन पद्धति से स्वतंत्र नहीं बल्कि उसी पर आधारित होती है। *गोथा कार्यक्रम की आलोचना* में मार्क्स ने भी लिखा है कि, "किसी भी समय उपभोग की वस्तुओं का वितरण स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों के वितरण का एक परिणाम मात्र है।...वितरण स्वयं उत्पादन-पद्धति का एक लक्षण है"। एंगेल्स द्वारा ऊपर गिनाए गए और हमारे द्वारा सूचीबद्ध किए गए बिन्दुओं में से अति महत्व का बिन्दु (घ) है जहां एंगेल्स ने कहा कि आर्थिक संबंधों में "**आर्थिक विकास की पहले की अवस्थाओं के अवशेष भी हैं**,"। यदि अभिनव सिन्हा एंगेल्स द्वारा गिनाए गए आर्थिक संबंधों बारे ऊपर दी गई हमारी स्ची में बिन्दु (क) और बिन्दु (घ) की परस्पर तुलना करें तो उन्हें साफ पता चल जाएगा कि बिन्दु (क) में एंगेल्स ने आर्थिक संबंधों के नाम से उत्पादन की उस विधि की बात की है जिसमें **समाज विशेष के लोग** अपने जीवन निर्वाह के साधनों को उत्पादित करते हैं और एक दूसर के साथ उत्पादों का विनिमय करते हैं। एंगेल्स जब समाज विशेष के लोगों द्वारा अपनायी जाने वाली उत्पादन विधि की बात करते हैं तो इसमें उस विशिष्ट उत्पादन विधि के अनुरूप उन उत्पादन के संबंधों के कुल योग की बात निहित है जो उस विशिष्ट उत्पादन विधि के आर्थिक ढाचे का निर्माण करते हैं। और बिन्दु (घ) में पृथक से आर्थिक संबंधों की श्रेणी में 'आर्थिक विकास की पहले की अवस्थाओं के अवशेष' बताए हैं जिसमें अवशेषों के रूप में, गुजर चुकी उत्पादन पद्धतियों के उत्पादन-संबंध अन्तर्निहित हैं। अब अभिनव सिन्हा को किसी विशिष्ट उत्पादन पद्धति की उत्पादक शक्तियों के अनुरूप उन उत्पादन संबंधों के कुल योग जो उस विशिष्ट उत्पादन पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और अतीत की अवस्थाओं की उत्पादन पद्धतियों के अवशेष के रूप में बचे उत्पादन संबंधों (जो सामाजिक उत्पादन की समूची भातिक प्रक्रिया के आधार में तो विद्यमान हैं पर मौजूदा विशिष्ट उत्पादन पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का अंग नहीं) में अंतर स्पष्ट हो जाना चाहिए।

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज के पृष्ठ 50-51 पर लिखते हैं:

"यदि आप 'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष, 1848-50' पढ़ें तो आपको मार्क्स के ऐसे ही विचार मिलेंगे, जिसमें वह स्पष्ट कर रहे हैं कि किसी भी समाज के आर्थिक आधार में किसी एक प्रकार के उत्पादन संबंध प्रभुत्वशाली

होते हैं और वे अन्य उत्पादन संबंधों को अपने अधीनस्थ करते हैं, उन्हें निर्धारित करते हैं और उन्हें सहयोजित करते हैं।"

यदि अभिनव सिन्हा के सोच-विचार के ढंग में रत्ती भर द्वन्द्ववादी दृष्टि होती तो वे समझ सकते थे कि जब हम प्रभुत्वशाली उत्पादन संबंधों और उनके अधीनस्थ उत्पादन संबंधों की कल्पना करते हैं तो ये प्रभुत्वशाली और अधीनस्थ दो अलग-अलग दर्जों के उत्पादन संबंध हैं। किसी समाज व्यवस्था के प्रभुत्वशाली उत्पादन संबंधों का कुल योग ही उस व्यवस्था के आर्थिक ढांचे को निर्मित करते हैं और इसका निर्धारण करते हैं कि उस व्यवस्था से बेमेल जो उत्पादन संबंध बचे हुए हैं उनका स्थान और नियति क्या होगी। यदि अधीनस्थ दर्जे के उत्पादन संबंध खुद भी उस विशेष समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा होते तो उन्हें प्रभुत्वशाली उत्पादन संबंधों द्वारा सहयोजित और समायोजित करने की जरूरत ही न पडती। क्योंकि किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों का कुल योग स्वयं में एक जैविक इकाई होती है और आर्थिक ढांचे की इस जैविक इकाई का वे उत्पादन संबंध हिस्सा नहीं बन सकते जो उस व्यवस्था की उत्पादन प्रणाली से बेमेल ह। आगे अभिनव सिन्हा लेनिन की पुस्तिका 'टैक्स इन काइण्ड' से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, जिसे लेनिन ने 1918 की अपनी रचना *वामपंथी बचकानापन और टुटपुंजिया मनोवृत्ति* से उद्धृत किया था, और जिसके अर्थ खुद अभिनव सिन्हा की समझ से बाहर हैं। लेनिन को उद्धृत करते हुए वह लिखते हैं:

"आप लेनिन की पुस्तिका 'टैक्स इन काइण्ड' का अध्ययन भी कर सकते हैं जिसमें वह लिखते हैं:

" 'लेकिन इस शब्द "संक्रमण" का क्या अर्थ है? किसी अर्थव्यवस्था पर लागू करने पर क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि मौजूदा व्यवस्था में पूंजीवाद और समाजवाद के दोनां के तत्व हैं? हर कोई मानेगा कि ऐसा ही है। लेकिन जो भी ऐसा मानते हैं वह यह सोचने की जहमत नहीं उठाते कि आज रूस में जो विभिन्न सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं हैं, उन्हें कौन से तत्व निर्मित करते हैं। और यही प्रश्न का सार है।

"आइये उन्हें देखते हैं:

(1) पितृसत्तात्मक, यानी, काफी हद तक प्राकृतिक, किसान खेती

(2) छोटा माल उत्पादन (इसमें उन किसानों की बहुसंख्या शामिल है जो अपना अनाज बेचते हैं)

(3) निजी पूंजीवाद;

(4) राजकीय पूंजीवाद;

(5) समाजवाद।

रूस इतना विशाल और इतना वैविध्यपूर्ण है कि *ये सभी अलग किस्म की सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं आपस में मिली हुई हैं।*' (लेनिन, *टैक्स इन काइण्ड*)

"अगर श्यामसुन्दर को इसकी व्याख्या करनी हो तो वह कहेंगे कि वह तो केवल समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के योग को ही आर्थिक आधार मानेंगे, बाकि उत्पादन सम्बन्धों को अवशेष मानेंगे! *लेकिन फिर सवाल यह खड़ा होगा कि ये अवशेषात्मक उत्पादन सम्बन्ध क्या अधिरचना का अंग है? यदि नहीं, तो वे कहां है? वे न तो आधार में हैं, और न ही अधिरचना में हैं, तो कहां है? एक ही जगहः श्यामसुंदर के वज्र मूढ़ मस्तिष्क में!"* (पेज 51/65)

असल बात यह है कि अभिनव सिन्हा अपने सैद्धांतिक ज्ञान की कमी को गालियों से ही पूरा कर देने की फूहड़ कला का इस्तेमाल करते हैं। ऊपर लेनिन द्वारा कही गयी जिन पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाओं का उल्लेख करते हुए इन्होंने सवाल किया है कि आखिरकार ये पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार में नहीं तो कहां हैं। इस सवाल के करने से पहले अभिनव सिन्हा को लेनिन के हवाले से सिर्फ इतना ही सिद्ध नहीं करना था कि ये पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं परस्पर मिली हुई हैं बल्कि उन्हें लेनिन के हवाले से यह भी सिद्ध करना चाहिए था कि ये पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं सोवियत समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग की एक जैविक इकाई का निर्माण करती थी। कोई कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी अच्छी तरह समझ सकता है कि समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण यानी जिस ढांचे पर कोई समाजवादी व्यवस्था खड़ी हो सकती है वह समाजवादी उत्पादन संबंधों का कुल योग ही हो सकता है। समाजवादी और पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के योग पर कोई समाजवादी व्यवस्था खड़ी हो ही नहीं सकती। और जिस वक्त लेनिन तत्कालीन व्यवस्था में उपरोक्त पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाओं की विद्यमानता दिखा रहे हैं उस व्यवस्था को वे समाजवादी व्यवस्था बता ही नहीं रहे हैं। लेनिन ने साफ लिखा है कि **"मौजूदा व्यवस्था में पूंजीवाद और समाजवाद के दोनों के तत्व हैं**।" लेनिन ने 'मौजूदा व्यवस्था' की जगह 'समाजवादी व्यवस्था' क्यों नहीं लिखा? असल में लेनिन खुद उस 'मौजूदा व्यवस्था' को, जिसमें पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं परस्पर मिली हुई थी, आर्थिक पहलू से समाजवादी व्यवस्था की मान्यता नहीं देते थे। लेनिन की पुस्तिका *टैक्स इन काइण्ड* के जिस पृष्ठ से अभिनव सिन्हा ने ऊपर वाला उद्धरण प्रस्तुत किया है उस उद्धरण से ऐन पहले का पैराग्राफ जानबूझकर छोड़ दिया है जो कि बौद्धिक चार सौ बिस्सी का ठोस प्रमाण है। क्योंकि इस ऐन पूर्व के पैराग्राफ में लेनिन ने 'मौजूदा व्यवस्था' के बारे में साफ लिखा है कि यह व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था नहीं है। वह जानबूझकर छोड़ दिया पैराग्राफ निम्न प्रकार से है जिसमें लेनिन लिखते हैंः

"मैं समझता हूं कि रूस की अर्थव्यवस्था के प्रश्न का अध्ययन करने में किसी ने भी उसके संक्रमणकालीन चरित्र से इंकार नहीं किया है और न मेरे ख़्याल में किसी कम्युनिस्ट ने ही इस बात से इंकार किया है कि 'समाजवादी सोवियत जनतंत्र' नाम के भीतर समाजवाद में **संक्रमण** उपलब्ध करने की सोवियत सत्ता की कृतनिश्चयता निहित है, न कि यह कि नयी आर्थिक व्यवस्था ही समाजवादी व्यवस्था है।" (रेखांकन जोड़ा गया)

हम यहां अभिनव सिन्हा को यह भी समझाना चाहेंगे कि किसी व्यवस्था, वस्तु अथवा प्रक्रिया के नामकरण के भी वस्तुगत अर्थ होते हैं। आप किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया को मनमर्जी से 'आबरा का डाबरा' नहीं कह सकते। 25 अक्तूबर 1917 को रूसी समाजवादी क्रांति के परिणामस्वरूप रूस में सर्वहारा का अधिनायकत्व

स्थापित हो गया तथा समाजवाद कायम हो गया। लेकिन सर्वहारा के हाथों में सत्ता आने से समाजवाद के निर्माण का महज आरंभ ही होता है और शासक सर्वहारा को समाजवादी उत्पादन प्रणाली का आर्थिक ढांचा तैयार करना होता है। सर्वहारा वर्ग के हाथों में सत्ता आने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि उसे समाजवादी उत्पादन प्रणाली भी पहले से ही बनी-बनाई तैयार मिल गयी हो जैसा कि पूंजीपति वर्ग को पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली, पूंजीवादी क्रांति के परिणामस्वरूप मिल जाती है क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के आधार पर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आरंभ सामंतवादी व्यवस्था में ही शुरु हो जाता है। लेकिन समाजवादी उत्पादन संबंध पूंजीवादी व्यवस्था के गर्भ में जन्म नहीं लेते इसीलिए सत्ता हासिल करने के बाद ही सर्वहारा वर्ग को अपनी समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे को तैयार करना होता है जिसमें कुछ अर्से की दरकार होती है। और वह अर्सा पूंजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण काल का ही एक भाग होता है। इस संक्रमण काल का सर्वप्रथम कार्य समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करना होता है। सारे देश का आर्थिक ढांचा छू-मंतर से एकदम समाजवादी नहीं हो जाता और रूस जैसे किसी पिछड़े हुए पूंजीवादी देश का तो कतई नहीं हो सकता था। जब तक अर्थव्यवस्था का आर्थिक ढांचा निर्णायक तौर पर समाजवादी उत्पादन संबंधों के कुल योग से तैयार नहीं हो जाता तब तक सर्वहारा सत्ता के अधीन उस समाज व्यवस्था में विकसित होती हुई समाजवादी आर्थिक संरचना के साथ-साथ मरती हुई पूंजीवादी आर्थिक संरचना के तत्व भी मौजूद रहेंगे लेकिन ये तत्व समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का हिस्सा नहीं बन सकेंगे। लेनिन ने ऊपर संक्रमण काल की अवस्था में रूस की जो स्थिति बतायी है वह यही है कि उस व्यवस्था में समाजवादी आर्थिक संरचना के साथ पूंजीवादी और पितृसत्तात्मक आर्थिक संरचनाएं विद्यमान हैं। इसीलिए लेनिन को तत्कालीन रूसी समाज व्यवस्था के नामकरण की बात को स्पष्ट करना पड़ा था, जिसे अभिनव सिन्हा नहीं समझ पाए। लेनिन ने लिखा कि " 'समाजवादी सोवियत जनतंत्र' नाम के भीतर समाजवाद में **संक्रमण** उपलब्ध करने की सोवियत सत्ता की कृतनिश्चयता निहित है, न कि यह कि नयी आर्थिक व्यवस्था ही समाजवादी व्यवस्था है।" एक अन्य जगह लेनिन और भी स्पष्ट रूप में कहते हैं कि:

"...नयी आर्थिक व्यवस्था **अभी तक** विद्यमान नहीं है। उसकी केवल स्थापना हो रही है।" (क्रांतिकारी लफ़्फ़ाजी, संकलित रचनाएं, खंड-7, पृष्ठ 438, फरवरी 1918)

क्या अभिनव सिन्हा बताएंगें कि ऊपर उन्होंने 1918 के रूस में लेनिन के हवाले से जो पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं गिनवाई हैं, क्या वे सब मिलकर समाजवादी अर्थव्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण कर रही हैं? यदि कर रही हैं ता फिर लेनिन जोर देकर क्यों कहते हैं कि रूस में **अभी तक** नयी आर्थिक व्यवस्था विद्यमान नहीं है और केवल उसकी स्थापना हो रही है? हम अभिनव सिन्हा से पूछते हैं कि यदि पितृसत्तात्मक, छोटा माल उत्पादन और निजी पूंजीवाद जैसी आर्थिक संरचनाएं एक समाजवादी आर्थिक ढांचे का निर्माण कर सकती होती तो क्या लेनिन इस तथ्य को जोर देकर लिखते कि रूस में अभी तक नयी आर्थिक व्यवस्था यानी समाजवादी व्यवस्था विद्यमान नहीं है? अत: सन् 1918 में रूसी अर्थव्यवस्था के मूल्यांकन बारे लेनिन का यह कहना कि रूस में अभी नयी आर्थिक व्यवस्था विद्यमान नहीं है, स्पष्ट तौर पर यह सिद्ध कर देता है कि किसी भी विशिष्ट अर्थव्यवस्था का आर्थिक ढांचा अतीत की आर्थिक संरचनाओं

के बचे अवशेषों के द्वारा निर्मित नहीं होता। लेकिन अभिनव सिन्हा किसी विशिष्ट सामाजिक संरचना की अपनी मनगढ़ंत 'मार्क्सवादी अवधारणा' प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि:

"सामाजिक संरचना की मार्क्सवादी अवधारणा का अर्थ ही है एक प्रकार के उत्पादन संबंधों व उत्पादन पद्धति की प्रधानता के साथ कई उत्पादन पद्धतियों का तंतुबद्धीकरण।" (50/65)

यदि किसी विशिष्ट सामाजिक संरचना की मार्क्सवादी अवधारणा यह होती कि एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों व उत्पादन पद्धति की प्रधानता के साथ कई उत्पादन पद्धतियों का तंतुबद्धीकरण होता है, तो लेनिन सन् 1918 में रूस के संदर्भ में यह कदापि न लिखते कि रूस में 'नयी आर्थिक व्यवस्था अभी तक विद्यमान नहीं है'। क्या 1918 में रूस में समाजवादी आर्थिक संरचना बाकी चार आर्थिक संरचनाओं का तंतुबद्धीकरण करते हुए एक नयी आर्थिक व्यवस्था यानी समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण होना संभव था? यदि ऐसा संभव था तो लेनिन ने क्यों लिखा कि रूस में 'नयी आर्थिक व्यवस्था अभी तक विद्यमान नहीं है'। कारण यह है जो लेनिन ने कहा कि पूंजीवादी क्रांति पूंजीपति वर्ग द्वारा सत्ता प्राप्ति के साथ ही सम्पन्न हो जाती है जबकि समाजवादी क्रांति सर्वहारा द्वारा सत्ता प्राप्ति के बाद शुरु होती है। रूस में 25 अक्तूबर 1917 को समाजवाद कायम हो गया, इस आधार पर नहीं कहा जाता कि रूस में समाजवादी अर्थव्यवस्था कायम हो गयी बल्कि इस आधार पर कि रूस में सर्वहारा और गरीब किसानों का अधिनायकत्व स्थापित हो गया था।

खैर! कौन-कौन से उत्पादन संबंधों का कुल योग किस विशिष्ट आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और उस कुल योग की क्या खासियत होती है आइए इसे मार्क्स से जाने। मार्क्स लिखते हैं:

"हमारे पाठक यह देख चुके हैं कि 1848 में वर्ग-संघर्ष किन विराट राजनीतिक रूपों में विकसित हुआ था। अब समय आ गया है कि **उन आर्थिक संबंधों पर** भी अधिक निकट से विचार किया जाए **जिन पर पूंजीपति वर्ग तथा उसके वर्गीय शासन का अस्तित्व, और साथ ही मजदूरों की गुलामी आधारित है।**" (उजरती श्रम और पूंजी, संकलित रचनाएं, खंड 1, भाग 1, पृष्ठ 185, जोर हमारा)

यानी किसी पूंजीवादी व्यवस्था में गुजर चुकी व्यवस्थाओं के आर्थिक संबंधों के ऐसे अवशेष भी बचे होते हैं जिन पर न तो पूंजीपति वर्ग का वर्गीय शासन आर न ही मजदूरों की गुलामी आधारित होती है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज व्यवस्था के मूलाधार को वही उत्पादन संबंध निर्मित करते हैं जिन संबंधों पर पूंजीपति वर्ग का वर्गीय शासन और मजदूरों की गुलामी आधारित होती है। यही बात समाजवादी आर्थिक संरचना पर भी लागू होती है।

आइए, अभिनव सिन्हा को किसी समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग के भीतर और बाहर की अवधारणा को समझाने के लिए उनके ही दल यानी सीएलआई (एमएल) के मुखपत्र लाल तारा-3 से कुछ पंक्तियां उद्धृत करें। लाल तारा-3 कहता है:

"सामंती भूमि संबंधों के अवशेष भी देश के विभिन्न हिस्सों में मौजूद हैं पर वे निरंतर ह्रासमान है और बुनियादी अन्तर्विरोध के दायरे के **बाहर** विस्थापित हो चुके हैं।" (लाल तारा-3, पेज 184, जोर हमारा)

क्या अभिनव सिन्हा बताएंगें कि बुनियादी अन्तर्विरोधों का दायरा किसे कहा जाता है तथा उस दायरे का 'भीतर और बाहर' क्या होता है? जिन उत्पादन संबंधों और अन्तर्विरोधों को सीएलआई के निर्माण से पहले बुनियादी अन्तर्विरोधों के दायरे के भीतर माना जाता था फिर सीएलआई की स्थापना के साथ वे उत्पादन संबंध उस दायरे से बाहर कैसे आ गए? और उस दायरे से बाहर आकर क्या वे अवशेष अधिरचना में समा गए अथवा किसी औंधी खोपड़ी में जा घुसे? 'बुनियादी अन्तर्विरोधों के दायरे' से किसी अन्तर्विरोध अथवा उत्पादन संबंध का बाहर हो जाना ही कहलाता है कि वह अन्तविरोध अथवा उत्पादन संबंध उस समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं रहा है। आइए, इस संदर्भ में एंगेल्स द्वारा लिखे गए *कम्युनिज़्म के सिद्धांत* से एक उद्धरण और देखें। एंगेल्स लिखते हैं:

"...मध्य युग के अंत क समय, जब मैनुफैक्चर के रूप में उत्पादन की नयी प्रणाली चालू हुई, जिसका उस समय मौजूद सामंती तथा शिल्प-संघीय स्वामित्व से मेल नहीं था, मैनुफैक्चर ने, **जो पुराने स्वामित्व-संबंधों से बाहर फैल गया था**, स्वामित्व के एक नये रूप का--निजी स्वामित्व का--सृजन किया।" (प्रश्न 15 के उत्तर से, जोर हमारा)

क्या अभिनव सिन्हा बताएंगे कि ऊपर दिये गये एंगेल्स के उद्धरण में *"पुराने स्वामित्व-संबंधों से बाहर"* वाक्यांश का क्या अर्थ है? इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि सामंती व्यवस्था के गर्भ में ही मैनुफैक्चर के रूप में उत्पादन की नयी प्रणाली के उत्पादन सम्बन्ध सामंती आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के साथ सामंजस्य अथवा मेल नहीं था और इसलिए वे पुराने आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं थे। और न ही वे अतीत की किसी समाज व्यवस्था के अवशेष थे बल्कि सामंतवाद के आर्थिक ढांचे के भीतर ही पूंजीवाद का आर्थिक ढांचा जन्म ले रहा था। पूंजीवाद के आर्थिक ढाँचे का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग सामंती आर्थिक ढाँचे का निर्माण नहीं करता बल्कि उसे ध्वस्त और तहस-नहस करता है। इसीलिए एंगेल्स ने लिखा कि "मैनुफैक्चर ने, जो पुराने-स्वामित्व सम्बन्धों से बाहर फैल गया था"। इसी बात को पुष्ट करते हुए लेनिन लिखते हैं:

"...यह एक तथ्य है कि 18वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में उत्पादन की नयी, अधिक ऊंची प्रणाली के **आर्थिक** आधार का **पहले** निर्माण हुआ और फिर, फलस्वरूप, ऊपरी ढांचे के रूप में सशक्त क्रांतिकारी सेना प्रकट हुई। फ्रांस ने दूसरे देशों से पहले सामंतवाद का परित्याग किया, विजयी क्रांति के **चंद वर्षों के बाद** उसे झाड़-बुहार दिया..." (क्रांतिकारी लफ़्फ़ाजी, खंड-7, पृष्ठ 438)

कितना स्पष्ट है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जिसे लेनिन ने अधिक ऊंची प्रणाली कहा उसके आर्थिक आधार का निर्माण पुराने सामंती आर्थिक ढाँचे में हुआ और इस अधिक ऊंची प्रणाली के मूलाधार का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग पुरानी सामंती प्रणाली के मूलाधार का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग का हिस्सा नहीं था। यानी मध्ययुगीन सामंती प्रणाली के आर्थिक ढांचे के भीतर ही पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आर्थिक मूलाधार जन्म ले रहा था। लेकिन अभिनव सिन्हा तो पुराने मूलाधार के साथ-साथ जन्म लेने वाले नए आर्थिक मूलाधार को भी एक ही व्यवस्था यानी सामंती व्यवस्था का मूलाधार

कहेंगे क्योंकि उनके अनुसार किसी एक अर्थव्यवस्था की समूची भौतिक प्रक्रिया में जो कुछ भी विद्यमान होता है वह उस अर्थव्यवस्था का मूलाधार ही माना जाएगा। वह नहीं जानते कि कोई निश्चित अर्थव्यवस्था उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल पर आधारित होती है और जो उत्पादन संबंध उत्पादक शक्तियों की उस निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं उन्हीं उत्पादन संबंधों का कुल योग उस व्यवस्था का मूलाधार कहा जाता है। इतना ही नहीं बल्कि कोई विशिष्ट समाज व्यवस्था उस व्यवस्था के अनुरूप उत्पादन संबंधों के समाहार अर्थात् कुल योग के नाम से भी पुकारी जा सकती है। एंगेल्स ने मार्क्स की रचना *उजरती श्रम और पूंजी* का सन् 1891 में खुद संपादन करते हुए जो संस्करण निकाला उसमें **दो बातें** अति स्पष्ट रूप में मिलती हैं जो उत्पादन संबंधों के कुल योग और समाज व्यवस्था की विशिष्ट मंजिल को पर्यायवाची होने के रूप में दर्शाते हैं। एंगेल्स लिखते हैं:

(1) "**...उत्पादन संबंधों को यदि समग्र रूप में लिया जाए तो वे ही सामाजिक संबंध हैं, समाज हैं और विशष रूप से वह समाज हैं, जो ऐतिहासिक विकास की एक खास मंजिल पर कायम हैं** और जिसका एक विशिष्ट पृथक चरित्र है।"

(2) "**प्राचीन रोमन-यूनानी** समाज, **सामंती** समाज, **पूंजीवादी** समाज--ये सब उत्पादन-संबंधों के इस प्रकार के समाहार हैं और साथ ही, इनमें से हर एक मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मज़िल का द्योतक है।" (संकलित रचनाए, खंड 1, भाग-1, पेज 197)

क्या इसके लिए किसी विस्तृत व्याख्या की जरूरत है जो एंगेल्स स्पष्ट तौर पर यहां कह रहे हैं कि पूंजीवादी समाज, पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का कुल योग और सामंती समाज, सामंती उत्पादन संबंधों का कुल योग होता है। उत्पादन संबंधों के कुल योग और उनकी अंतरनिर्भरता तथा उनके आधार स्तंभ को न समझते हुए अभिनव सिन्हा फिर अपने सारसंग्रहवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए और उलटा हमारे ऊपर इस संबंध में अज्ञानता का आरोप लगाते हुए लिखते हैं:

"उत्पादन संबंधों की श्यामसुन्दर की अवधारणा अज्ञानतापूर्ण है। **उत्पादन संबंध केवल सम्पत्ति संबंध या श्रम विभाजन ही नहीं है। वितरण के सम्बंध इसका तीसरा और अहम पहलू है। ये तीनों ही आयाम अंतर्सम्बधित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।** यदि हम वितरण के सम्बन्धों की बात करें तो जाति व्यवस्था वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विनियामक का काम करती है। अगर कुछ आंकड़ों पर निगाह दौड़ाएं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। दलित घरों की औसत आय भारत के घरों की आम औसत आय से कम है। भारत के 25 प्रतिशत गांवों में दलितों की औसत मज़दूरी आम औसत मजदूरी से कम है। इतने ही प्रतिशत गांवों में उन्हें मजदूरी देर से मिलती थी और 37 प्रतिशत गांवों में मज़दूरी दूर से दी जाती थी, ताकि शारीरिक सम्पर्क से बचा जा सके। 35 प्रतिशत गांवों में दलित निम्न उत्पादकों को अपने उत्पादों को स्थानीय बाज़ारों में नहीं बेचने दिया जाता है और उन्हें कहीं अन्यत्र जाकर मण्डी में अपने उत्पाद बेचने पड़ते हैं, जिससे कि समय लागत और पूंजी लागत बढ़ जाती है और उनकी औसत आय में कमी आती है। दलित परिवारों की औसत आय 22800 रुपये है, जबकि उच्च जाति के घरों की औसत आय 48000रुपये है। यहां तक कि मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन और शहरों में तो आदिवासी परिवारों की आय भी दलित परिवारों

से ज्यादा है। *हमने दलित परिवारों व गैर-दलित परिवारों का आंकड़ा इसलिए लिया ताकि आप समझ सकें ।क दलितों की औसत आय कम होना स्त्रियों के कम औसत वेतन से अलग चीज़ है और यह महज़ सामाजिक उत्पीड़न का मसला नहीं है।* यहां हम व्यक्तिगत आय का मूल्यांकन नहीं कर रहे, बल्कि पूरे परिवार के आय का मूल्यांकन कर रहे हैं। इसलिए इस असमानता को महज़ सामाजिक उत्पीड़न का मसला नहीं समझा जा सकता है, बल्कि इसका एक स्पष्ट आर्थिक आयाम है। *इन आंकड़ों से साफ तौर पर देखा जा सकता है कि उत्पादन संबंधों के तीसरे आयाम, यानी वितरण के सम्बन्धों की बात करें, तो जाति व्यवस्था को स्पष्ट तौर पर वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विानयामक के तौर पर देखा जा सकता है।* इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि जाति के इन आर्थिक आयामों को भारत का संविधान या कानून व्यवस्था पहचानती है या नहीं। भारत का संविधान तो वर्ग की वास्तविकता को भी नहीं पहचानता है। तो क्या वर्ग का यथार्थ भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक आधार का अंग नहीं है?" (पृष्ठ 31-32/65, मोटे अक्षर हमारे)

सबसे पहले हम किसी उत्पादन प्रणाली के उत्पादन संबंधों की बात पर आते हैं जिसके बारे अभिनव सिन्हा ने पूरी तरह द्वन्द्ववाद विरोधी यानी सारसंग्रहवादी दृष्टिकोण अपनाया है। वह ऊपर दिए गए उद्धरण के आरंभ में लिखते हैं, "उत्पादन संबंध केवल सम्पत्ति संबंध या श्रम विभाजन ही नहीं है। वितरण के सम्बंध इसका तीसरा और अहम पहलू है। ये तीनों ही आयाम अंतर्सम्बंधित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि अभिनव सिन्हा उत्पादन संबंधों के तीन आयामों के अंतर्सम्बन्ध और एक दूसरे को प्रभावित करने की समझ तक ही सीमित हैं। वह यह नहीं जानते कि इन तीनों का आधार स्तंभ सम्पत्ति अथवा स्वामित्व के सम्बंध ही होते हैं। स्वामित्व के सम्बन्ध पर ही श्रम विभाजन और वितरण प्रणाली आधारित होती है। किसी व्यवस्था की वितरण प्रणाली उस व्यवस्था के स्वामित्व के संबंधों अथवा सम्पत्ति संबंधों के बाहर से नहीं आती। यदि वर्तमान उत्पादन प्रणाली को अभिनव सिन्हा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली मानते हैं तो इस पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की वितरण प्रणाली भी पूंजीवादी है जो पूंजीवादी स्वामित्व के संबंधों से उपजती है। मार्क्स लिखते हैं:

"किसी भी समय उपभोग की वस्तुओं का वितरण स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों के वितरण का एक परिणाम मात्र है।...वितरण स्वयं उत्पादन-पद्धति का एक लक्षण है। मिसाल के तौर पर, उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति इस तथ्य पर आधारित ह कि उत्पादन की भौतिक परिस्थितियां, पूंजी तथा भूमि की सम्पत्ति के रूप में, अश्रमिकों के हाथों में है, जबकि जनसाधारण केवल उत्पादन की व्यक्तिगत परिस्थिति–श्रम शक्ति–के मालिक हैं। यदि उत्पादन के तत्वों का वितरण इसी तरह का है, तो उपभोग की वस्तुओं का वर्तमान वितरण इसका स्वतोत्पन्न परिणाम है। यदि उत्पादन की भौतिक परिस्थितियां स्वयं श्रमिकों की सामूहिक संपत्ति है, तो परिणामस्वरूप, वहां भी इसी तरह उपभोग की वस्तुओं का वर्तमान से भिन्न वितरण उत्पन्न होगा।" (गोथा कार्यक्रम की आलोचना, पृष्ठ 18-19)

मार्क्स ने कितना स्पष्ट लिखा है कि 'वितरण स्वयं उत्पादन-पद्धति का एक लक्षण है'। लेकिन अभिनव सिन्हा ऊपर दिए गए उनके उद्धरण में वितरण को पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से पृथक कर देते हैं यानी वितरण को वह उत्पादन पद्धति का लक्षण मानने से इनकार करते हैं और कुछ आंकड़े देते हुए दावा करते हैं कि 'इन आंकड़ों से साफ तौर पर देखा जा सकता है कि उत्पादन संबंधों के तीसरे आयाम, यानी

वितरण के सम्बन्धों की बात करें, तो जाति व्यवस्था को स्पष्ट तौर पर वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विनियामक के तौर पर देखा जा सकता है'। यह कहना कि जाति व्यवस्था स्पष्ट तौर पर वितरण के तमाम नियामकों में से एक विनियामक के तौर पर देखा जा सकता है, यह कहने के समान है कि वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में वितरण पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का लक्षण और परिणाम नहीं हैं। अभिनव सिन्हा का कहना है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति (जिसे वे स्वीकारते हैं) में वितरण प्रणाली पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की उपज नहीं है और दलितों की सापेक्षत: कम आमदनी की व्याख्या पूंजीवादी उत्पादन पद्धति और उसकी वितरण प्रणाली के दायरे से बाहर जाकर करते हैं और इस प्रकार उत्पादन प्रणाली तथा वितरण प्रणाली के मां-बटी जैसे संबंध को तोड़ देते हैं। वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में दलितों की आमदनी सापेक्ष तौर पर इसलिए कम है कि दलितों की बहुसंख्या सर्वहारा बन चुकी है और सर्वहाराओं को पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में न्यूनतम मजदूरी के भी लाले पड़े रहते हैं और महीने में ऐसे भी कई दिन होते हैं जिसमें सर्वहाराओं को काम भी नहीं मिलता है।

बिगुल पुस्तिका (आरक्षण: पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष, पहला संस्करण जनवरी, 2008) में लिखा है कि:

"...दलित जातियां न केवल अपमानजनक सामाजिक पार्थक्य और बर्बर सामाजिक उत्पीड़न की शिकार हं, बल्कि आर्थिक तौर पर भी **लगभग नब्बे फीसदी** दलित आबादी पूंजीवादी समाज के 'नये गुलामों' **उजरती मजदूरों की कतारों में** खड़ी है।" (पृष्ठ 10, जोर हमारा)

लेकिन अभिनव सिन्हा दलितों की कम आमदनी की व्याख्या इस आधार पर न करके कि क्योंकि लगभग नब्बे फीसदी दलित उजरती मजदूरों की कतार में खड़े हो गये हैं और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति उन सब को न्यूनतम मजदूरी मुहैया कराने में समर्थ नहीं है, वे उत्पादन पद्धति से बाहर छलांग लगा जाते हैं और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के बाहर दलितों की कम आमदनी की व्याख्या के लिए सारसंग्रहवादो पापड़ बेलने लगते हैं। अत: या तो अभिनव सिन्हा वर्तमान उत्पादन प्रणाली को पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली न कहें और यदि कहते हैं तो फिर पूंजीवादी वितरण प्रणाली के आधार पर ही दलितों की सापेक्षत: कम आमदनी होने की व्याख्या करें।

6.

व्यवस्था और व्यवस्था के अवशेषों में अन्तर बारे

अभिनव सिन्हा के लिए मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन की कुछ मूलभूत शिक्षाएं

सामंती अवशेषों के साथ दुनियाभर का शासक पूंजीपति वर्ग क्या ट्रीटमेण्ट करता है इसको दर्शाने के लिए हमने अपने पहले 25 पृष्ठीय दस्तावेज में लेनिन का एक उद्धरण दिया था, जो लेनिन के अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह (1921) के भाषण से लिया गया था। वही उद्धरण हम पाठकों के सामने विचार हेतु पुन: प्रस्तुत कर रहे हैं, जो निम्न प्रकार से है:

"...हमारे यहां रूस में अब स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार-अपूर्णता जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकि नहीं है, जिसे बिना किसी

अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादी वर्ग नया रूप दे रहा है।"

अभिनव सिन्हा ने हम पर आरोप लगाया है कि हमने लेनिन का उक्त उद्धरण संदर्भ से काट कर दिया है और इसे हमारी बौद्धिक चार सौ बिस्सी बताया है तथा कम्युनिस्ट नैतिकता के तकाजे का भी सवाल उठाया है और पाठकों का असली मुद्दे से ध्यान भटकाने के लिए स्त्रियों की अधिकारहीनता पर एक लम्बा भाषण लिख डाला जो यहां हमारी बहस का मुद्दा ही नहीं है। बहस का मुद्दा यह है कि किसी व्यवस्था और उसके अवशेषों में क्या भेद होता है। किसी व्यवस्था के अवशेष उन्हें कहा जाता है जब व्यवस्था अपने मूल चरित्र में नष्ट हो गयी हो लेकिन उस व्यवस्था से उपजे अधिकार, सामाजिक परंपराएं, बंधन, सामाजिक अन्याय आदि बचे रहते हैं। लेनिन ने ऊपर के उद्धरण में सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता के उन अवशेषों की बात की है जिन्हें पूंजीवादी जनवादी क्रांति द्वारा समाप्त किया जाना अपेक्षित होता है। अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर सन् 1921 में दिए गए लेनिन के इस भाषण का आरंभिक हिस्सा विगत चार वर्षों में सामंतवाद और मध्ययुगीनता के अवशेषों को मिटा देने पर ही केन्द्रित है। अभिनव सिन्हा ने हम पर आरोप लगाया है कि हमने लेनिन के भाषण का ऊपर दिया गया उद्धरण कम्युनिस्ट नैतिकता का परित्याग करते हुए संदर्भों से काट कर प्रस्तुत किया है। इसलिए अब हम इस बात के लिए बाध्य हैं कि लेनिन अपने भाषण की शुरुआत करते हुए दिए गए उद्धरण तक कैसे पहुंचे यह दर्शाने के लिए भाषण के कुछ अंशों को पाठकों के सामने पेश करें। लेनिन कहते है:

"25 अक्तूबर (7 नवंबर) की चौथी सालगिरह निकट आ रही है।...रूस में क्रांति का तात्कालिक तथा प्रत्यक्ष लक्ष्य पूंजीवादी-जनवादी लक्ष्य था, अर्थात् मध्ययुगीनता के अवशेषों को नष्ट करना और उनका नाम-निशान तक मिटा देना, रूस से बर्बरता के इस कलंक को दूर कर देना और अपने देश में सारी संस्कृति तथा प्रगति की राह की प्रचंड बाधा को दूर करना।...हमें इस बात पर गर्व करने का हक है कि हमने यह सफाई...125 वर्ष से भी अधिक पहले की महान फ्रांसीसी क्रांति की अपेक्षा कहीं अधिक निर्णयकारी ढंग से, कहीं अधिक तेजी, साहस तथा सफलता के साथ, कहीं अधिक व्यापक रूप से तथा गहराई के साथ की है।...अराजकतावादी तथा निम्नपूंजीवादी जनवादी...पूंजीवादी जनवादी क्रांति तथा समाजवादी (**अर्थात्** सर्वहारा) क्रांति के पारस्परिक संबंध के बारे में हद से ज़्यादा बकवास करते रहे हैं और कर रहे हैं। पिछले चार वर्षों ने इस बात को सोलह आने साबित कर दिया है कि इस बात के बारे में मार्क्सवाद की हमारी व्याख्या और इससे पहले की क्रांतियों के अनुभव का हमारा मूल्यांकन सही था। हमने पूंजीवादी-जनवादी क्रांति को **अंजाम तक** पहुंचा दिया है, जैसा पहले किसी ने नहीं किया है। हम पूर्णत: सचेतन रूप से, समझ-बूझ कर तथा अडिग रूप से समाजवादी क्रांति की दिशा में **आगे** बढ़ रहे हैं, इस बात को जानते हुए कि उसे पूंजीवादी-जनवादी क्रांति से कोई चीनी दीवार नहीं अलग करती...परंतु आइए, अपनी क्रांति के पूंजीवादी-जनवादी सारतत्व के बारे में बात पूरी कर लें।...क्रांति के पूंजीवादी जनवादी सार-तत्व का मतलब यह होता है कि देश के सामाजिक संबंधों में से (विभिन्न व्यवस्थाओं, संस्थाओं में से) मध्ययुगीनता को, भूदासता को, सामंतवाद को बिल्कुल खत्म कर दिया गया है। 1917 तक रूस में भूदासता की मुख्य अभिव्यक्तियां, लक्षण तथा अवशेष क्या थे? राजतंत्र, सामंती सामाजिक श्रेणी-भेद, भूस्वामित्व तथा

भू-व्यवस्था, स्त्रियों की दशा, धर्म और जातीय उत्पीड़न इन 'अवगी की घुड़सालों' में से किसी को भी ले लीजिए–प्रसंगवश यह भी बता दिया जाए कि जब सभी उन्नत राज्यों ने अबसे सवा सौ, ढाई सौ, या उससे भी अधिक वर्ष पहले (इंग्लैंड में 1649 में) **अपनी** पूंजीवादी-जनवादी क्रांतियां की थी, तब इन्हें काफी हद तक गंदा ही छोड़ दिया था,–इन अवगी की घुड़सालों में से किसी को भी ले लीजिए: आप देखेंगे कि हमने उन्हें अच्छी तरह साफ कर दिया है। **दस सप्ताह** के भीतर, 25 अक्तूबर (7 नवंबर) 1917 से लेकर संविधान सभा की बर्खास्तगी तक (5 जनवरी 1918) हमने इस मामले में उससे हजार गुणा अधिक काम कर लिया, जितना पूंजीवादी जनवादियों...ने अपनी सत्ता के **8 महीनों में** किया था।....वे राजतंत्र तक को नष्ट नहीं कर पाये! हमने राजतंत्र के सारे कचरे को इस तरह साफ कर दिया, जिस तरह इस से पहले किसी ने नहीं किया था। हमने उस प्राचीन इमारत की जिसे सामंती सामाजिक श्रेणी-भेद कहते हैं, एक ईंट भी बाकि नहीं छोड़ी (इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे सबसे उन्नत देश भी आज तक इस पद्धति के अवशेषों को पूरी तरह खत्म नहीं कर पाये हैं!)। हमने सामंती सामाजिक श्रेणी-भेद की गहरी जड़ों को, अर्थात् भू-स्वामित्व की व्यवस्था में सामंतवाद तथा भूदासता के अवशेषों को चुन-चुन कर उखाड़ फेंका है।...इस हकीकत के खिलाफ वितर्क नहीं किया जा सकता कि निम्न-पूंजीवादी जनवादी आठ महीने तक ज़मींदारों के साथ, भूदासता की परंपराओं के संरक्षकों के साथ 'समझौते करते रहे', जबकि हमने कुछ ही हफ्तों के भीतर रूस की सरज़मीन से ज़मींदारों तथा उनकी सारी परंपराओं का नाम-निशान तक मिटा दिया। धर्म को, या स्त्रियों की अधिकारहीनता, या ग़ैर-रूसी जातियों के उत्पीड़न और उनकी नाबराबरी को ले लीजिए। ये सभी पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की समस्याएं हैं। छिछोरे निम्न-पूंजीवादी जनवादी आठ महीने तक इनकी बाबत बकवास करते रहे। संसार के किसी **एक भी** अधिकतम विकसित देश में **इन** सवालों को **पूंजीवादी-जनवादी** ढंग से **पूरी तरह** हल **नहीं** किया गया है। हमारे देश में अक्तूबर क्रांति के बनाए हुए क़ानूनों द्वारा उन्हें पूरी तरह हल कर लिया गया है। हम धर्म के विरुद्ध असली मानी में लड़े हैं और लड़ रहे हैं। हमने **सारी** ग़ैर-रूसी जातियों को उनके अपने जनतंत्र या स्वायत्त प्रदेश दे दिए हैं।"

इसके तुरंत बाद लेनिन ने वही बात कही है जिसे हमने उद्धरण के रूप में ऊपर दिया है यानी :

"...हमारे यहां रूस में अब स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार-अपूर्णता जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकि नहीं है, जिसे बिना किसी अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादी वर्ग नया रूप दे रहा है।"

अब पाठक हमें बताएं कि हमने लेनिन के भाषण से इस उद्धरण को किस दृष्टि से संदर्भों से काटकर प्रस्तुत किया है? हमने कौन-सी चार सौ बिस्सी की है? लेनिन अपने भाषण के आरंभ से ही सामंतवाद और मध्ययुगीनता के अवशेषों, बंधनों और परंपराओं को गिनाते हुए ही मध्ययुगीनता और सामंतवाद के अवशेषों के रूप में ही स्त्रियों की अधिकारहीनता की बात कर रहे हैं। और लेनिन यही कह रहे हैं कि सामंतवाद और मध्ययुगीनता के इन अवशेषों को जिस हद तक कोई क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग अपनी पूंजीवादी जनवादी क्रांति के जरिए ख़त्म नहीं कर सका (और इन अवशेषों को नया रूप देकर अपने हित में इस्तेमाल कर रहा है) उससे ज्यादा रूस में अक्तूबर सर्वहारा क्रांति के बाद समाप्त कर दिया गया है। अक्तूबर क्रांति

की चौथी सालगिरह पर लेनिन के भाषण से जो अंश ऊपर उद्धृत किये गये हैं उन्हें पढ़कर क्या किसी को रत्ती भर भी शक रह सकता है कि लेनिन सामंतवाद और मध्ययुगीनता के उन अवशेषों को मिटा देने पर गर्व कर रहे हैं जिन अवशेषों को मिटाया जाना पूंजीवादी जनवादी क्रांति का कार्यभार होता है लेकिन जिन्हें दुनियाभर का लोभी पूंजीपति वर्ग मिटाने की बजाय नया रूप देकर इस्तेमाल करता है। लेकिन अभिनव सिन्हा ने जान-बूझ कर पितृसत्तात्मकता, लिंग भेद यानी जेंडर असमानता, जो वर्गों की उत्पत्ति की उपज है और जो समाज के वर्ग विभाजन से अविच्छेद्य रूप में जुड़ी हुई है, को सामंतवाद और मध्ययुगीनता के अवशेषों के साथ एकाकार कर दिया है। सामाजिक असमानता समाज के वर्ग विभाजन से अस्तित्व में आयी हैं और उनका खात्मा भी वर्ग विभाजन के खात्मे के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन कोई विशिष्ट सामाजिक असमानता किसी समाज व्यवस्था के विशिष्ट रूप की उपज होती है और सामान्य रूप में उसकी निरंतरता अवशेष के रूप में बनी रहती है। उदाहरण के तौर पर सामंती असमानता, सामंतवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित होती है। पूंजीवादी जनवादी क्रांति सामंती उत्पादन प्रणाली को नष्ट करके पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली कायम कर देती है और पूंजीवादी असमानता पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित हो जाती है। लेकिन इसके साथ ही साथ सामंती असमानता और बंधन अवशेषों के रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में भी कायम रह जाते हैं। उन सामंती और मध्ययुगीनता के अवशेषों को ही मिटा देने की बात लेनिन अपने भाषण में कर रहे हैं न कि वर्ग निरपेक्ष भाव से सामान्य तौर पर स्त्री-समानता और स्त्री-मुक्ति की। क्योंकि सामंतवाद और मध्ययुगीनता पर आधारित स्त्री असमानता और अधिकारहीनता का नामो निशान मिटा देने के बाद भी स्त्री असमानता बनी रहती है जिसकी जड़ें समाज के वर्ग विभाजन में मौजूद हैं और जिसका पूर्ण खात्मा वर्गों के खात्म के साथ जुड़ा हुआ है। समाज का प्रत्येक पुराना विशिष्ट रूप जब गुणात्मक रूप से नये विशिष्ट रूप में रूपांतरित हो जाता है तो पुराने के अवशेष नये में मौजूद रहते हैं और कुछ तो ऐसे होते हैं कि उनका बना रहना भी अनिवार्य होता है। यानी चाह कर भी उन्हें मनमान ढंग से मिटाया नहीं जा सकता। उदाहरण के तौर पर समाजवादी समाज में 'योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार दाम' पूंजीवादी समाज का ही एक पूंजीवादी अधिकार मौजूद रहता है। लेनिन ने अपनी रचना *राज्य और क्रांति* में लिखा है:

"लेकिन यथार्थ बात तो यही है कि प्रकति में और समाज में, दोनों में, नए के अंदर पुराने के बचे हुए अवशेष हमें जीवन के हर कदम पर दिखलाई देते हैं। मार्क्स ने साम्यवाद के अंदर 'पूंजीवादी' अधिकार का एक अंश भी अपनी तरफ से, मनमाने ढंग से नहीं घुसेड़ा था, बल्कि वह चीज़ बताई थी जिसका पूंजीवाद के **गर्भ से** निकलते हुए समाज में होना आर्थिक और राजनीतिक रूप से अनिवार्य है।" (राज्य और क्रांति, अध्याय 5, अनुभाग 4 से, रेखांकन जोड़ा गया)

यानी समाज व्यवस्था के तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था के खात्मे के बाद भी समाजवादी समाज व्यवस्था में पूंजीवादी व्यवस्था के अवशेष विद्यमान रहते हैं और लेनिन ने कहा है कि ये अवशेष पूंजीवाद के गर्भ से निकलते हुए समाज में आर्थिक और राजनीतिक रूप से अनिवार्य हैं। लेकिन अतीत की समाज व्यवस्थाओं के बचे क्या सभी अवशेष अनिवार्य होते है? उदाहरण के तौर पर लेनिन ने खुद ही ऊपर दिये गये एक उद्धरण में सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता के उन घृणास्पद अवशेषों की बात की है जिन्हें 'बिना किसी अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंद बुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादी वर्ग नया रूप दे रहा

है'। जो अवशेष वस्तुगत रूप में आर्थिक और राजनीतिक रूप से अनिवार्य नहीं होते और जिन्हें वर्ग विशेष अपने स्वार्थवश बनाये रखता है, इस प्रकार के अवशेषों के बारे में खुद अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम ने भी अपने 'शोध पेपर' में लिखा है:

"भारतीय समाज के लिए उपनिवेशीकरण का सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप यह था कि इसने जाति-व्यवस्था की **प्राचीन बुराई** को तो पुनः संस्कारित करके अपने हित में बनाए रखा, लेकिन पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। पुराने समाज के गर्भ में नैसर्गिक विकास के जो भ्रूण पल रहे थे-वे नष्ट हो गए।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 36)

शोध टीम के इस उद्धरण से पूर्णतः स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था की प्राचीन बुराई एक खास दौर की उत्पादन पद्धति थी जिसे नष्ट किया जाना संभव था पर ब्रिटिश शासकों ने उसे नष्ट नहीं किया और उसे पुनः संस्कारित करके अपने स्वार्थ में बनाए रखा। अतः अभिनव सिन्हा अपने अध्ययन संस्थान की शोध टीम के इस उद्धरण से भी समझ सकते हैं कि जाति व्यवस्था प्राचीन और मध्य भारत की एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी जिसके आज सजातीय विवाह जैसे अवशेष बचे हुए हैं। पाठक साथी अब समझ सकते हैं कि अभिनव सिन्हा द्वारा हमारे ऊपर लगाया गया आरोप कि हमने 'स्त्रियों की अधिकारहीनता' संबंधी लेनिन का उद्धरण संदर्भों से काट कर दिया है एकदम निराधार है।

अतः व्यवस्था क्या होती है और व्यवस्था के अवशेष किन्हें कहा जाता है, इन दोनों के बीच भेद को समझना निहायत जरूरी है। पीछे इस बात पर काफी चर्चा हो चुकी है कि किसी भी व्यवस्था की कोई एक बात आधारभूत होती है जिस पर वह व्यवस्था खड़ी होती है। और यही बात जाति व्यवस्था पर भी लागू होती है। यहां पर एक बात याद दिला देना उचित होगा कि मार्क्स ने जाति व्यवस्था के आधारभूत तत्व को आनुवांशिक श्रम बताया है जिस पर कि जाति व्यवस्था खड़ी है लेकिन अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के तीन बुनियादी आयाम मानते हैं और साथ में यह भी मानते हैं कि यह जाति व्यवस्था उन तीन आयामों में से किसी एक आयाम पर भी खड़ी रह सकती है। हमारा मानना है कि इस संबंध में मार्क्स की अवस्थिति को दरकिनार कर देना द्वन्द्ववाद को तिलांजलि देना है। आज यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि आनुवांशिक श्रम विभाजन जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी थी पूरी तरह मिट चुका है और फलस्वरूप अब जाति व्यवस्था एक व्यवस्था के तौर पर अस्तित्व में नहीं है, इसके महज़ अवशेष बाकी हैं। लेकिन जाति व्यवस्था के पहलुओं के बारे में 'बिगुल' वालों का कहना है कि इसके तीन पहलुओं में से दो पहलू या तो खत्म हो चुके हैं या खत्म होने की कगार पर हैं और बस एक पहलू बचा हुआ है और वह है सजातीय विवाह का पहलू। और इनका कहना है कि सजातीय विवाह वाले बचे हुए पहलू के आधार पर जो जाति व्यवस्था खड़ी है वह एक 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' है। देखें अभिनव सिन्हा अपने 'शोध पेपर' में इस बारे क्या लिखते हैं:

"एक पहलू है जो अभी भी बरकरार है और वह पहलू है सजातीय विवाह की प्रथा। और इसका कारण एकदम ठीक यही है कि इसका पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से कोई बैर नहीं है। वास्तव

में, यह पूंजीवाद के लिए बेहतर है और मेल खाता है। पूंजीवाद के दौर में पितृसत्ता का भी नये रूप में बरकरार रहने का यही कारण है। और ये दोनों कारक एक-दूसरे को बल देते हैं, यानी कि पितृसत्ता सजातीय विवाह पर आधारित पूंजीवादी जाति व्यवस्था का, और पूंजीवादी जाति व्यवस्था पूंजीवादी पितृसत्ता का। और ये दोनों मिलकर पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीपति वर्ग को अपने दमन और शोषण की मशीनरी को चाक-चौबंद करने अवसर देते हैं।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 133-34, रेखांकन जोड़ा गया)

अत: स्पष्ट है कि सजातीय विवाह की प्रथा को यह संगठन अतीत की जाति व्यवस्था का अवशेष न मानकर महज़ उसी के आधार पर एक नयी जाति व्यवस्था यानी 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' को खड़ा कर रहा है। यानी अब जाति व्यवस्था इनके अनुसार आनुवांशिक श्रम विभाजन के बिना ही विद्यमान है। और इस प्रकार की जाति व्यवस्था को 'बिगुल' वालों ने 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' की संज्ञा दी है, जो कि पूर्णत: ऐतिहासिक भौतिकवाद विरोधी और द्वन्द्ववाद विरोधी है।

किसी व्यवस्था अथवा दर्शन के निषेध हो जाने के बाद उसका जो भी शेष बचता है उसे अवशेष ही कहा जाता है चाहे वह अवशेष अनिवार्य हो या गैर-अनिवार्य। आइए, इस संबंध में एंगेल्स द्वारा दिये गये दर्शनशास्त्र के क्षेत्र स एक उदाहरण पर गौर करें। एंगेल्स लिखते हैं:

"प्राचीन काल का दर्शनशास्त्र था आदिम ढंग का प्राकृतिक भौतिकवाद। उस रूप में उसमें मन और पदार्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की सामर्थ्य नहीं थी। लेकिन इस प्रश्न के बारे में एक साफ़ समझ प्राप्त करने के उद्देश्य से पहले एक ऐसी आत्मा की कल्पना की गयी, जिसे देह से अलग किया जा सकता है; फिर इस आत्मा की अनश्वरता की घोषणा की गयी; और अंत में एकेश्वरवाद की स्थापना हो गयी। **अत: पुराने भौतिकववाद का भाववाद के द्वारा निषेध हो गया।** लेकिन **जब दर्शनशास्त्र का और विकास हुआ तो भाववाद भी निराधार बन गया, और उसका आधुनिक भौतिकवाद के द्वारा निषेध हो गया।** आधुनिक भौतिकवाद, निषेध का निषेध, केवल पुराने भौतिकवाद की पुनर्स्थापना नहीं है, बल्कि वह पुराने भौतिकवाद की स्थायी एवं मूल स्थापनाओं में दर्शनशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान क दो हजार वर्ष के विकास के और साथ ही इन दो हजार वर्षों के इतिहास के संपूर्ण विचार तत्व को जोड़ देता है। अब वह दर्शनशास्त्र हरगिज़ नहीं रह जाता है, बल्कि अब तो वह एक विश्व दृष्टिकोण हो जाता है...। अत: यहां पर दर्शनशास्त्र का 'उर्ध्वपातन' हो जाता है, अर्थात् 'उस पर काबू पा लिया जाता है और साथ ही वह कायम भी रहता है'। जहां तक उसके रूप का संबंध है उस पर काबू पा लिया जाता है और जहां तक उसके वास्तविक सार का संबंध है, वह कायम रहता है।" (ड्यूहरिंग मत-खण्डन, भाग-1, अध्याय 13, पृष्ठ 221-222)

यहां एंगेल्स ने निषेध का निषेध की द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया के आधार पर दर्शनशास्त्र के विकास को दर्शाया है। उन्होंने दिखाया कि आरंभिक दर्शन भौतिकवादी था पर उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह पदार्थ और चेतना के सम्बन्ध को दर्शा पाता और उस दर्शन की इस कमजोरी के कारण भाववाद के द्वारा उसका निषेध हो गया। तथा दर्शनशास्त्र के आगे की विकास प्रक्रिया में भाववाद का भी आधुनिक भौतिकवाद यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा निषेध हो गया। एंगेल्स ने दिखाया कि आधुनिक भौतिकवाद पुराने भौतिकवाद के निषेध का निषेध है। लेकिन यह पुराने भौतिकवाद की मात्र उसी रूप में पुनर्स्थापना नहीं है बल्कि दर्शनशास्त्र

और प्राकृतिक विज्ञान की दो हजार वर्षों की उपलब्धियां इसने आत्मसात की हैं। यानी आधुनिक भौतिकवाद पुराने भौतिकवाद, भाववाद और प्राकृतिक विज्ञानों की उपलब्धियों को अपनाते और आत्मसात करते हुए ही अपने अस्तित्व में आया है। ठीक इसी प्रकार जब किसी एक विशिष्ट समाज व्यवस्था का निषेध करते हुए नयी समाज व्यवस्था अपने अस्तित्व में आती है तो वह अपने से पूर्व की तमाम व्यवस्थाओं की उपलब्धियों को अपने अंदर संजोये हुये होती है। उपलब्धियों के इलावा कुछ ऐसी चीजें भी होती है जिनका नयी समाज व्यवस्था के साथ सामंजस्य नहीं होता है। पर वे भी अतीत की व्यवस्थाओं के अवशेषों के रूप में मौजूद रहते हैं। अतीत की व्यवस्थाओं की उपलब्धियां और अवशेष पूंजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था में भी मौजूद होते हैं। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उपलब्धियां और अवशेष एंगेल्स द्वारा ऊपर दिये गये उद्धरण के द्वारा भली भांति समझे जा सकते हैं। एंगेल्स ने ऊपर दिखाया कि आरंभिक भौतिकवाद का भाववाद ने निषेध कर दिया और भाववाद का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने निषेध कर दिया। अब सवाल है कि यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भाववाद का निषेध कर दिया तो इसके निषेध हो जाने के बाद भी जो भाववाद अब भी मौजूद है उसे क्या कहा जाये? भाववादी बुद्धिजीवी एंगेल्स के इस कथन पर ही अट्टाहास करेंगे कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भाववाद का निषेध कर दिया। पर मार्क्सवादी क्या कहेंगे? क्या मार्क्सवादी यह कह सकते हैं कि भाववाद का निषेध नहीं हुआ? नहीं। बिल्कुल नहीं। और यदि एंगेल्स का यह कथन कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा भाववाद का निषेध हो चुका है, पूर्णत: सच है तो फिर क्या विद्यमान भाववाद, भाववादी दर्शन के अवशेषों के अलावा कुछ और हो सकता है? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने धर्म और भाववादी दर्शन का निषेध कर दिया है और आज ये अंधविश्वासों के रूप में ही लोगों के दिलो-दिमाग पर छाये हुए हैं और दुनिया भर का शासक पूंजीपति वर्ग अंधविश्वास रूपी इन अवशेषों को अपने स्वार्थ में बनाये रखे हुए है और इन्हें नया-नया रूप देकर शोषित पीड़ित जनता की चेतना को धर्म और भाववाद के चौखटे में सीमित किये हुए है। इसीलिए हमने अपने पहले दस्तावेज में कहा था कि "प्रतिक्रियावादी पूंजीपति वर्ग तो अंधविश्वासों को भी नया रूप देकर अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है तो क्या इसे भी हेगेलीय भाषा में अंधविश्वास का उत्सादन कहेंगे? क्या यह अत्यंत हास्यास्पद नहीं होगा?"।

उपलब्धियों और अवशेषों में भेद

अभिनव सिन्हा पहले की समाज व्यवस्था से अगली समाज व्यवस्था में आने वाली उपलब्धियों और अवशेषों में भेद नहीं करते। पूर्व की व्यवस्था के निषेध से अगली व्यवस्था में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की चीज़ें आती हैं। सकारात्मक को अगली व्यवस्था अपने फलने-फूलने का आधार बनाती हैं, उसे और बढ़ाती हैं तथा नकारात्मक चीजों को यानी जिन से आने वाली व्यवस्था का मेल और सामंजस्य नहीं है यानी जो उस व्यवस्था के फलने-फूलने में अवरोध का काम करते हैं उन्हें वह व्यवस्था यथासंभव हटाने का काम करती है। उदाहरण के तौर पर किसी पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर समाजवादी व्यवस्था क लिए एक सकारात्मक चीज़ है। पूंजीवादी व्यवस्था की इस उपलब्धि को समाजवादी व्यवस्था अपने विकास का आधार बनाती है। इसी प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के सामाजीकृत पहलू को समाजवादी व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था की उपलब्धि के तौर पर ग्रहण करती है और उसे और आगे बढ़ाती है। लेकिन अक्तूबर क्रांति के फलस्वरूप रूसी अर्थव्यवस्था को जो नकारात्मक चीज़ें जैसे कि पितृसत्तात्मक,

छोटा माल उत्पादन, निजी पूंजीवाद आदि आर्थिक संरचनाएं, जैसा कि लेनिन ने लिखा और अभिनव सिन्हा ने *टैक्स इन काइण्ड* से उद्धृत किया, विरासत में मिली तो क्या इन्हें भी रूसी सर्वहारा शासक वर्ग अपनी समाजवादी व्यवस्था के फलने-फूलने का आधार बना सकता था? रूसी शासक सर्वहारा विरासत में मिली इन आर्थिक संरचनाओं को क्या और आगे बढ़ाता अथवा इन्हें अपने रास्ते से हटाने की नीति बनाता? इस प्रकार अभिनव सिन्हा विगत से मिलो सकारात्मक उपलब्धियों और नकारात्मक अवशेषों में कोई भेद न करते हुए लिखते हैं:

"दूसरी बात, श्यामसुन्दर यह भी नहीं समझ पाए हैं कि 'पुराने का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन' का क्या अर्थ है। उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन का अर्थ केवल प्रतीतिगत 'पुनरुत्पादन' होता है। इसीलिए लेनिन ने निषेध का निषेध के नियम के बारे में चर्चा करते हुए लिखा है कि इसका अर्थ है 'निम्न स्तर के कुछ निश्चित गुणों का उच्चतर स्तर पर दुहराव...और पुराने की **प्रतीतिगत** वापसी।' (लेनिन, दर्शन-सम्बन्धी नोटबुक्स, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 38, जोर हमारा) एक अन्य स्थान पर लेनिन इसे और स्पष्ट करते हैं, "एक परिवर्तन जो, मानो, गुजर चुके चरणों को दुहराता है, लेकिन उन्हें अलग रूप में दुहराता है, एक उच्चतर आधार पर...एक विकास प्रक्रिया जो कि कुण्डलाकार पथ पर चलती है, न कि सीधी रेखा में।" *इसलिए उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन का अर्थ होता है, नया पुराने का उत्सादन या* determinate negation *करता है, यानी जैसाकि लेनिन ने लिखा है, पुराने में जो विकास की नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम* (viable)*है, नया उसे सहयोजित करता है और उसे अपने अनुसार रूपान्तरित करता है। इसलिए नये स्तर पर पिछले स्तर के शुद्ध अवशेष हूबहू नहीं प्रकट होते, बल्कि वे नये के साथ तन्तुबद्धीकृत* (articulate) होकर प्रकट होते हैं। शुद्ध अवशेषों की उपस्थिति केवल abstract negation *का परिणाम हो सकता है,* determinate negation *का नहीं।" (पेज 45/65)*

अभिनव सिन्हा को यह बात स्पष्ट करनी चाहिए थी कि कोई भी व्यवस्था विगत् से मिली सकारात्मक उपलब्धियों और नकारात्मक अवशेषों के बारे में एक ही नीति अपनाती है अथवा भिन्न-भिन्न? और जब वह विरासत में मिली सकारात्मक और नकारात्मक चीजों में भेद करने में समर्थ हो जाएंगे तो फिर यह भी समझ जाएंगे कि "पुराने में जो विकास की नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम (viable) है, नया उसे सहयोजित करता है और उसे अपने अनुसार रूपान्तरित करता है" और जो नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम नहीं है तो नया उसके साथ क्या व्यवहार करेगा। सवाल शुद्ध अवशेषों का नहीं है बल्कि सकारात्मक उपलब्धियों और नकारात्मक अवशेषों का है, किसी चीज़ के नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम होने और जीवक्षम न हाने का है। क्या नया विरासत में मिले उन नकारात्मक अवशेषों को भी जो नये के लिए जीवक्षम नहीं है अपने फलने फूलने का उसी तरह आधार बनायेगा जिस प्रकार वह विरासत में मिली जीवक्षम सकारात्मक उपलब्धियों को बनाता है?

7.

अवशेषों, सामाजिक और आर्थिक गैर-बराबरी को कानून द्वारा समाप्त किए जाने पर आपत्ति

हमने अपने पहले दस्तावेज़ में लिखा था:

"हम समझते हैं कि सड़कों की लड़ाई का असली तात्पर्य मेहनतकश दलित जातियों और 'सवर्ण' जातियों के तमाम मजदूरों, मेहनतकशों, गरीब किसानों, आदिवासियों यानी अलग-अलग प्रकार से तमाम शोषितों-पीड़ित लोगों द्वारा संगठनबद्ध होकर सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष होगा। पूंजीवादी सत्ता की जगह दलितों-शोषितों पीड़ितों की सत्ता की स्थापना करनी होगी; राजनीतिक शक्ति उनके हाथों में आनी होगी जिसका मतलब है कि राष्ट्र के तमाम प्राकृतिक संसाधन, भूमि और उत्पादन के तमाम साधनों का नियंत्रण उनके हाथों में केन्द्रित होगा। इसके बाद ही वे समाज में व्याप्त तमाम प्रकार की ऊंच नीच और गैर-बराबरी को, चाहे सामाजिक हो चाहे आर्थिक वांछित कदम उठाते हुए, कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए मिटा सकते हैं।"

इसकी आलोचना करते हुए अभिनव सिन्हा ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखा:

"सामाजिक सम्बंधों का रूपान्तरण मूलत: वर्ग संघर्ष का मसला होता है; कानून और आज्ञप्तियां केवल उस वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का एक अंग होती हैं और उस प्रक्रिया को एक अगले चरण में ले जाने का काम करती हैं। इसीलिए एंगेल्स ने बहुत पहले ही 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था कि निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद सम्भव है और बाद में लेनिन और माओ ने भी इस बात की ताईद की थी। लेकिन श्यामसुन्दर इतनी सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते हैं, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होता है।" (15/65, रेखांकन जोड़ा गया)

इस उद्धरण में अभिनव सिन्हा ने हमारे ऊपर दो आरोप लगाए हैं। पहला तो यह कि हम सामाजिक सम्बन्धों के रूपांतरण को मूलत: वर्ग संघर्ष का मसला नहीं समझते और केवल कानून और आज्ञप्तियों के द्वारा सब कुछ हल कर देना चाहते हैं। दूसरा यह कि हम इस सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते कि "निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद संभव है" जिसे इनके अनुसार एंगेल्स ने 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था और जिसकी बाद में लेनिन और माओ ने भी ताईद की थी। जहां तक पहले आरोप का प्रश्न है उसमें पहली बात तो यह कि हमने कतई यह नहीं लिखा कि सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का सारा रूपांतरण केवल कानूनों के जरिए हो जाएगा। हमने वहां दो बात लिखी हैं जिसमें पहली बात है 'वांछित कदम उठाते हुए' और दूसरी है 'कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए'। सबसे महत्वपूर्ण बात यहां यह है कि हमने यहां ये बातें दलितों के शाोषण-उत्पीड़न और उनकी गैर-बराबरी के संदर्भ में लिखी हैं, न कि इस संदर्भ में कि समाजवादी क्रांति करने के बाद कानूनों के जरिए हम साम्यवाद में प्रवेश कर जाएंगे। दलितों के संदर्भ में सामाजिक ऊंच-नीच तो पहले ही खत्म हो सकती थी यदि हमारे देश में बुर्जुआ जनवादी क्रांति क्रांतिकारी स्वरूप लेकर अपनी निर्णायक मंजिल पर पहुंच जाती और जहां तक आर्थिक गैर-बराबरी का प्रश्न है तो यहां इसका सिर्फ मतलब यह है कि मानव द्वारा मानव का शोषण खत्म

कर दिया जाएगा। जिसका सीधा-सा मतलब यह है कि उजरती गुलामी को समाप्त कर दिया जाएगा। *अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह* पर अपने प्रसिद्ध भाषण में लेनिन कहते हैं:

"धर्म को, या स्त्रियों की अधिकारहीनता, या ग़ैर-रूसी जातियों के उत्पीड़न और उनकी नाबराबरी को ले लीजिए। ये सभी पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की समस्याएं हैं। छिछोरे निम्न-पूंजीवादी जनवादी आठ महीने तक इनकी बाबत बकवास करते रहे। संसार के किसी **एक भी** अधिकतम विकसित देश में **इन** सवालों को **पूंजीवादी-जनवादी** ढंग से **पूरी तरह** हल **नहीं** किया गया है। हमारे देश में अक्तूबर क्रांति के बनाए हुए कानूनों द्वारा उन्हें पूरी तरह हल कर लिया गया है।" (रेखांकन जोड़ा गया)

हमारे देश में जाति व्यवस्था के अवशेष, सामाजिक गैर-बराबरी, लैंगिक असमानता, आदि-आदि पूंजीवादी-जनवादी क्रांति के अधूरे बचे काम हैं जिनके बारे में लेनिन कहते हैं कि रूस में अक्तूबर क्रांति के बनाए हुए कानूनों द्वारा उन्हें पूरी तरह हल कर लिया गया है। समाजवादी व्यवस्था में उसी तरह आर्थिक गैर-बराबरी (मानव द्वारा मानव के आर्थिक शोषण) के खात्मे के लिए भी कानून बनाए जाते हैं जिनके जरिए मानव द्वारा मानव के शोषण, उजरती श्रम पर रोक लगा दी जाती है और कानून के जरिए उसका पालन कराया जाता है। लेनिन ने कहा है कि समाजवादी व्यवस्था का सबसे आधारभूत सिद्धांत यह होता है कि "जो काम नहीं करता, वह खायेगा भी नहीं"। क्या समाजवाद के इस प्रधान और मूल सिद्धांत का क्रियान्वयन भी कानूनों के जरिए नहीं किया जाएगा? नहीं तो, क्या आर्थिक गैर-बराबरी, दूसरे अर्थों में मानव द्वारा मानव का शाषण तब तक चलता रहेगा जब तक कि समाज से लम्बे वर्ग-संघर्ष के जरिए वर्गों के उन्मूलन का अंत नहीं हो जाएगा? अलबत्ता यह बात सही है कि समाज से हर प्रकार के अंतरविरोध को मिटाने के लिए जैसे कि शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम के अन्तर को मिटाने के लिए और 'योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार दाम' की समाजवादी अवस्था से 'क्षमता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार सामान' की साम्यवादी अवस्था तक पहुंचने के लिए महज कानूनों के जरिए काम नहीं चलेगा बल्कि एक लम्बे संघर्ष और समय की दरकार होगी।

दूसरा आरोप: अब हम अभिनव सिन्हा द्वारा हमारे ऊपर लगाए गए दूसरे आरोप की चर्चा पर आते हैं कि हम इस सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते कि "निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद संभव है जिसे एंगेल्स ने 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था और जिसकी बाद में लेनिन और माओ ने भी ताईद की थी।" असल में **अभिनव सिन्हा का ऐतिहासिक भौतिकवादी और द्वन्द्ववादी दृष्टि से कोई वास्ता नहीं है।** ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण हमें सिखाता है कि किसी भी समाज व्यवस्था की एक उत्पादन पद्धति होती है और उत्पादन पद्धति के सामाजिक स्वरूप का निर्णय इस आधार पर होता है कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व का चरित्र किस प्रकार का है, यानी सामूहिक है अथवा निजी और यदि निजी है तो उसका भी चरित्र किस प्रकार का है। उदाहरण के तौर पर सामंती समाज व्यवस्था उत्पादन के साधनों पर सामंती स्वामित्व के आधार पर टिकी होती हैं और पूंजीवादी व्यवस्था संपत्ति के पूंजीवादी स्वामित्व पर। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार पूंजीवादी स्वामित्व पूंजीवादी व्यवस्था का आधार होता है और द्वन्द्ववाद के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के बाकि सारे आयाम पूंजीवादी स्वामित्व पर आधारित होते हैं, उस से उपजते हैं। लेकिन अभिनव सिन्हा के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था अथवा पूंजीवाद बिना

पूंजीवादी निजी स्वामित्व के भी संभव है। कोई भी समझ सकता है कि ऐसा पूंजीवाद जिसका आधार पूंजीवादी निजी स्वामित्व ही गायब हो, वह पूंजीवाद हवा में झूलता पूंजीवाद ही हो सकता है और इस लिहाज से उस पूंजीवाद के लिए न तो ऐतिहासिक भौतिकवाद की जरूरत रहती और न ही द्वन्द्ववाद की। हम बिल्कुल मजाक नहीं कर रहे बल्कि अभिनव सिन्हा वास्तव में ही ऐसा मानते हैं।

अभिनव सिन्हा ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में एंगेल्स के हवाले से इसी प्रकार के हवा में झूलते पूंजीवाद के बारे में लिखा है कि बिना निजी सम्पत्ति के भी पूंजीवाद सम्भव है और श्यामसुन्दर पर इस बात की फटकार लगायी है कि वह इतनी सामान्य सी मार्क्सवादी शिक्षा भी नहीं समझता कि हवा में झूलता पूंजीवाद भी संभव होता है। अभिनव महाशय ने अपने ऊपर क उद्धरण में लिखा है क्या लिखते हैं:

"इसीलिए एंगेल्स ने बहुत पहले ही 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था कि निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद सम्भव है और बाद में लेनिन और माओ ने भी इस बात की ताईद की थी। लेकिन श्यामसुन्दर इतनी सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते हैं, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होता है।" (पेज 15/65)

अब इस पर क्या कहे? कितने आत्मविश्वास के साथ और कितनी बे-सिर पैर की मनमानी और बेहूदी बकवास अभिनव सिन्हा ने एंगेल्स के मुंह में ठूंस दी है और फिर इस मनमानी बकवास की लेनिन और माओ से ताईद भी करवा दी। क्या अभिनव सिन्हा हमें एंगेल्स की रचना *समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक* का वह सही-सही पृष्ठ बताएंगे जहां एंगेल्स ने ऐसा लिखा है कि **"निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद सम्भव है"** और फिर जहां लेनिन और माओ ने एंगेल्स का यह हवाला देते हुए इसकी ताईद की है। और यदि वह एंगेल्स की उक्त रचना से यह प्रमाणित नहीं कर पाते कि एंगेल्स ने ऐसा कहा है तो फिर क्या यह मार्क्सवाद के सिद्धांतों को तोड़ना-मरोड़ना और उनका विकृतिकरण नहीं कहा जाएगा? और कमाल तो इस बात का है कि इस प्रकार की वाहियात, निराधार और बेतुकी बात को वह 'सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा' की संज्ञा देकर उलटा हम पर ही यह आरोप लगा रहे हैं कि हम अपनी मूर्खतावश इतनी सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझ रहे हैं। असल में दूसरों पर मूर्ख और बौना होने का इल्ज़ाम लगाये बिना यह संभव भी नहीं है कि मार्क्सवाद यानी द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धांतों के साथ खिलवाड़ किया जा सके। पूंजीवाद, पूंजीवादी व्यवस्था को ही कहा जाता है जो कि निजी सम्पत्ति पर आधारित विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना होती है और यदि निजी सम्पत्ति वाला आधार ही इस आर्थिक संरचना के नीचे से गायब कर दिया जाए तो फिर यह आर्थिक संरचना कैसे खड़ी रह सकती है? विश्व सर्वहारा के शिक्षकों ने इस बात को तो समझाया कि समाजवाद में 'योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार दाम' का सिद्धांत एक पूंजीवादी अधिकार को प्रतिबिंबित करता है लेकिन 'पूंजीवादी अधिकार' और 'पूंजीवाद' दो अलग-अलग अवधारणाएं हैं, जिन्हें गड्ड-मड्ड करना कतई उचित नहीं है। पर 'मार्क्सवाद की सामान्य शिक्षा' के नाम पर अपनी मनमर्जी के सिद्धांतों को गढ़ने और ऐतिहासिक भौतिकवाद व द्वन्द्ववाद विरोधी अपनी खोखली लफ्फाज़ी के जरिए अभिनव सिन्हा मार्क्सवाद के बुनियादी और सामान्य सिद्धांतों के बारे में भ्रम फैला रहे हैं और बेख़ौफ उनका विकृतिकरण और उनकी तोड़-मरोड़ कर रहे हैं जो कि एक चिंता का विषय है।

8.

'मजदूर बिगुल' के सम्पादक अभिनव सिन्हा को इस बात पर आपत्ति है कि बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को काग़ज़ी और औपचारिक क्यों कहा गया

हमने अपने पहले पर्चे में इस बात पर चर्चा की थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो नया संविधान बना था उसमें सभी को पेशे की स्वतंत्रता का मौलिक आधिकार दिया गया था और आनुवांशिक श्रम की प्रथा के खात्मे का ऐलान कर दिया गया था अर्थात् जाति और जन्म के आधार पर, वशांनुगत पेशों वाली व्यवस्था का खात्मा कर दिया गया। देश के हर नागरिक को अपनी पसंद का पेशा चुनने का अधिकार दिया गया। अस्पृश्यता और बेगार प्रथा के खात्मे की घोषणा हुई तथा कुछ अन्य जनवादी-मौलिक अधिकार नागरिकों को मिले। पेशे की स्वतंत्रता मिली, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे पेशे हैं उदाहरण के तौर पर शहरों और गांवों में सफाई का पेशा जिसमें अधिकांश लोग आज भी उसी जाति से संबंध रखते हैं जिसके लिए कि पहले के जाति व्यवस्था वाले राज्य में वह पेशा वंशानुगत आधार पर मुकर्रर था। इस स्थिति का कारण हमने बताया था कि यह जाति व्यवस्था का बंधन नहीं अपितु घोर बेरोजगारी के संकट से ग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में वैकल्पिक काम के अभाव का होना है। संकटग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में सभी के लिए उपयुक्त रोजगार संभव ही नहीं है। आज यह बात किसी से छुपी नहीं कि बीए, एमए, आदि उच्च डिग्रीधारी नौजवान भी एक माली, चपरासी, और चौकीदार की पोस्ट के लिए और वह भी ठेके पर, मारे-मारे फिरत हैं। हमने कहा था कि **पूंजीपति वर्ग के शासन और संविधान द्वारा आम जनता को दिए जाने वाले सभी जनवादी मौलिक अधिकार औपचारिक और कागज़ी ही होते हैं।** संविधान ने आम जनता को जीने का मौलिक अधिकार दिया है पर आम आदमी कैसा जीवन जीता है, उसके पास खाने के लिए रोटी है या नहीं, पहनने के लिए कपड़ा-जूता और रहने के लिए मकान है भी या नहीं इसकी गारंटी कहां है? संविधान में शिक्षा का मौलिक अधिकार होते हुए भी क्या सभी को शिक्षा मिल पा रही है? सभी नागरिकों को संविधान समानता का भी अधिकार देता है लेकिन क्या सभी नागरिक एक ही गुणवत्ता का जीवन जी रहे हैं? आदि आदि। इसलिए हमने कहा था कि **पूंजीवादी सत्ता और संविधान के तहत तमाम मौलिक और जनवादी अधिकार कागजी, दिखावटी और कथनी तक ही सीमित होते हैं।** आम जनता का व्यावहारिक जीवन कुछ और ही होता है। हमारे देश मं भी क्योंकि सत्ता का हस्तांतरण सन् 1947 में पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो गया था, इसी कारण यहां जाति व्यवस्था का खात्मा और पेशे की स्वतंत्रता का अधिकार भी मात्र औपचारिक तौर पर ही पूरे हुए हैं लेकिन पूंजीवादी अधिकार और पूंजीवादी व्यवस्था आम जनता को औपचारिक अधिकारों की सीमाओं में ही बांधे रखती है। अब दलितों, मजदूरों एवं तमाम शोषित-पीड़ित मेहनतकशों की मुक्ति और इनके सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में वास्तविक समानता एवं स्वतंत्रता का सवाल पूंजीवादी शासन, संविधान और व्यवस्था के घेरे को तोड़कर देश के समाजवादी आधार पर नवनिर्माण के जरिए ही संभव है। हमारे द्वारा बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को कागज़ी कहे जाने पर अभिनव सिन्हा ने घोर आपत्ति उठाई और लिखा कि:

"श्यामसुन्दर कहते हैं कि पूंजीवादी सत्ता और संविधान के मातहत मिलने वाले सभी अधिकार केवल औपचारिक और कागज़ी होते हैं, यानी वे वास्तविक नहीं होते हैं। यह मूर्खतापूर्ण बात है। अगर ऐसा है तो उन्हें जनवादी क्रांति का पक्षधर हो जाना चाहिए। बुर्जुआ जनवाद जनता को सीमित जनवादी व नागरिक अधिकार देता है और इन अधिकारों की पहुंच वर्ग संस्तर में नीचे जाते हुए वास्तविक से औपचारिक बनती जाती है। लेकिन संस्तर की सबसे निचली पैंड़ीं पर खड़े मज़दूरों और मेहनतकशों को भी कुछ सीमित जनवादी अधिकार *वास्तविक* रूप से मिले होते हैं, क्योंकि वह पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता होती है। यह कहना कि सभी जनवादी मौलिक अधिकार पूर्णतः औपचारिक और कागज़ी हैं, वास्तविक नहीं, जनवादी क्रांति मानने वालों के लिए सही है, लेकिन समाजवादी क्रांति मानने वालों के लिए बेवकूफी। *क्योंकि अगर ऐसा है तो 26 जून 1975 को क्या छिना था, अगर कुछ वास्तविक हासिल ही नहीं था?*" (पेज 9-10/65)

हम इस बात पर हैरान है कि अभिनव सिन्हा ने हमारे द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा और दलितों के लिए बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को कागज़ी और दिखावटी कहे जाने पर इस प्रकार की आपत्ति उठाई। अभिनव सिन्हा ने यह बात ध्यान में नहीं रखी कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने पूंजीवादी जनवाद को सामंती गुलामी की तुलना में आगे बढ़ा हुआ कदम बताया तथा बुर्जुआ जनतंत्र को एकमात्र ऐसा राजनीतिक रूप भी बताया जिसमें सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच निर्णायक संघर्ष चलाया जा सकता है, यानी सर्वहारा के लिए पूंजीवादी जनवादी अधिकारों की लड़ाई को जरूरी बताया। लेकिन सर्वहारा जनवाद की तुलना में उन्होंने पूंजीवादी जनवादी अधिकारों को कागज़ी, दिखावटी और नाममात्र के ही कहा। *पूंजी* के खण्ड 1, अध्याय 32 से एक अंश को उद्धृत करते हुए मार्क्स वेरा ज़सूलिच को लिखे अपने पत्र में लिखते हैं:

"...उसका (उत्पादन प्रणाली का) विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेन्द्रित साधनों में रूपांतरित हो जाना, अर्थात् बहुत-से लोगों की क्षुद्र संपत्ति का थोड़े-से लोगों की अति विशाल संपत्ति में बदल जाना, साधारण जनता का यह भयानक तथा अत्यंत कष्टदायक संपत्ति-अपहरण पूंजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है। अपने श्रम द्वारा कमायी हुई **निजी सम्पत्ति** का स्थान **...पूंजीवादी निजी सम्पत्ति** ले लेती है, जो कि दूसरे लोगों के नाम मात्र के लिए स्वतंत्र श्रम पर– अर्थात् उजरती श्रम पर– आधारित होती है।" (मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएं, खंड-3, भाग-1, पृष्ठ 190, रेखांकन जोड़ा गया)

यहां मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था में जिसमें कहा जाता है मजदूर किसी का गुलाम नहीं है बल्कि उसको अपने श्रम की स्वतंत्रता है, उस स्वतंत्रता को नाममात्र की स्वतंत्रता ही बताया क्योंकि वास्तविकता में वह उजरती गुलामी ही है। और देखें एंगेल्स ने *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* में लिखा:

"...सर्वहारा ने बुर्जुआ वर्ग के दावे में उसे फंसाया– समानता केवल दिखावटी नहीं होनी चाहिए; इस सिद्धांत को केवल राज्य के क्षेत्र पर ही लागू नहीं होना चाहिए, बल्कि समानता को वास्तविक होना चाहिए और उसे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र पर भी लागू होना चाहिए।..." (भाग-1,अध्याय 10, पृष्ठ 172)

यहां एंगेल्स ने बुर्जुआ जनवाद के उस दावे की हवा निकाल दी कि बुर्जुआ जनवाद में सभी समान हैं। एंगेल्स ने दिखाया कि सर्वहारा के लिए बुर्जुआ जनवादी समानता वास्तविक नहीं बल्कि दिखावटी है। और

देखें, लेनिन *रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शविक) की नवीं कांग्रेस (29 मार्च-5 अप्रैल 1920)* में प्रस्तुत की गई *केन्द्रीय समिति की रिपोर्ट, (29 मार्च)* में लिखते हैं:

"...वे 'स्वतंत्रता' और 'समता' शब्दों का बहुत ढिंढोरा पीटते हैं पर यह नहीं समझते कि पूंजी के लिए स्वतंत्रता की बात करना श्रमिक जनता के प्रति अपराध है, कि धनवान और कंगाल के बीच समता की बात करना मेहनतकश जनता के प्रति अपराध है।..." (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 416)

यहां लेनिन ने बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था में बुर्जुआ द्वारा समता बारे किए जाने वाले दावे को दिखावटी और कागज़ी ही नहीं बल्कि अपराध की संज्ञा दे दी। लेनिन फिर दोहराते हैं:

"...सामंतों के ऊपर पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व किस बात में निहित था? संविधान में स्वतंत्रता तथा समता की बात कही गई थी। वह एक झूठ था। जब तक मेहनतकश बाकि हैं, तब तक संपत्ति के मालिक मुनाफ़ाख़ोरी करने की स्थिति में रहेंगे और वास्तव में सम्पत्ति के मालिकों की हैसियत से वे मुनाफ़ाख़ोरी करने के लिए मजबूर रहेंगे। हम घोषणा करते हैं कि समता जैसी कोई चीज़ नहीं है, कि पेट-भरा आदमी कंगालों के बराबर नहीं होता, मुनाफ़ाख़ोर मेहनतकश के बराबर नहीं होता।" (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 418)

यहां लेनिन ने स्पष्ट किया कि बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था में सर्वहारा के लिए समता जैसी कोई चीज़ ही नहीं होती यानी बुर्जुआ जनवाद द्वारा समता का दावा एक ढोंग के अलावा और कुछ नहीं होता। लेनिन फिर लिखते हैं:

"...हमारे संविधान को इस कारण इतिहास में स्थान पाने का अधिकार है और उसने यह अधिकार प्राप्त कर लिया है कि मिलकियत का ख़ात्मा केवल **कागज़ी घोषणा** तक ही सीमित नहीं है। विजयी सर्वहारा वर्ग ने मिलकियत का ख़ात्मा कर दिया है, उसे बिल्कुल रद्द कर दिया है-और इसी बात में एक वर्ग के रूप में उसका प्रभुत्व निहित है। मुख्य बात मिलकियत का सवाल है। ज्यों ही मिलकियत के सवाल को व्यवहार में हल कर लिया गया कि वर्ग का प्रभुत्व सुनिश्चित हो गया। उसके बाद जब संविधान ने उस चीज़ को काग़ज़ पर दर्ज कर दिया, जिसे वास्तविक जीवन में साकार रूप दिया जा चुका था,..." (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 419, जोर हमारा)

यहां लेनिन ने सर्वहारा संविधान की घोषणाओं और प्रावधानों की तुलना बुर्जुआ संविधान द्वारा की जाने वाली घोषणाओं से की है और स्पष्ट कहा है कि सर्वहारा संविधान की घोषणाएं बुर्जुआ जनवादी सोंवधान की घोषणाओं की भांति मात्र कागज़ी घोषणाएं ही नहीं होतीं। लेनिन आगे फिर लिखते हैं:

"जब कभी भी एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को हटाकर उसका स्थान लिया है, तब मिलकियत के रिश्ते बदल दिए गए हैं। जब पूंजीपति वर्ग ने सामंतों को हटाकर उनका स्थान लिया था, तो उन्होंने सम्पत्तिगत सम्बन्ध बदल दिए; पूंजीपति वर्ग का संविधान कहता है कि 'सम्पत्तिवान मनुष्य और भिखारी बराबर हैं'। यह

थी पूंजीवादी स्वतंत्रता। इस प्रकार की 'समता' ने राज्यसत्ता के अंतर्गत पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व को सुनिश्चित कर दिया।" (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 420)

यहां भी लेनिन ने पूंजीवादी स्वतंत्रता और समता का मजाक उड़ाया है। और देखें, *कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की पहली कांग्रेस (2-6 मार्च 1919)* में पेश की गई 4 मार्च की अपनी रिर्पोट में लेनिन ने पूंजीपति वर्ग की प्रैस की स्वतंत्रता और सभा करने की आजादी के अधिकार की धज्जियां उड़ाई हैं और पूंजीपति वर्ग द्वारा दी जाने वाली आजादियों का भंडाफोड़ करते हुए लिखा :

"पूंजीपतियों ने हमेशा 'आजादी' शब्द का इस्तेमाल धनियों के लिए और अधिक धनी बनने और मजदूरों के लिए भूखों मरने की आजादी के मानी में किया है।...वास्तविक आजादी और समता उसी व्यवस्था में होगी, जिसका निर्माण कम्युनिस्ट कर रहे हैं और जिसके अंतर्गत दूसरों की कीमत पर दौलत जोड़ने की संभावना नहीं होगी..." (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 190)

सभा करने के कागज़ी अथवा दिखावटी अथवा औपचारिक अधिकार की वास्तविकता को दिखाते हुए लेनिन *पार्टी-कार्यक्रम में संशोधन करने और पार्टी का नाम बदलने के बारे में रिपोर्ट (8मार्च शाम को)* में लिखते हैं:

"...पूंजीपति वर्ग के लिए महत्वपूर्ण बात है **दिखावटी उसूलों का आम ऐलान:** 'सभी नागरिक सभा करने के अधिकार का उपयोग कर सकते हैं, लेकिन खुले आसमान के नीचे सभा करने के अधिकार का हम तुम्हें सभा-भवन नहीं देंगे'।" (संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड 2, भाग 2, पृष्ठ 208, जोर हमारा)

हमने अपने पर्चे में पेशे की स्वतंत्रता बारे चर्चा करते हुए लिखा था कि "पूर्व की जाति व्यवस्था की भांति आज देश का संविधान और प्रशासनिक ढांचा, राज्यसत्ता किसी भी नागरिक को अपनी जाति का वंशानुगत पेशा अपनाने के लिए बाध्य नहीं कर सकती, फिर भी कुछ ऐसे पेशे हैं उदाहरण के तौर पर शहरों और गांवों में सफाई का पेशा जिसमें अधिकांश लोग आज भी उसी जाति से संबंध रखते हैं जिसके लिए कि पहले के जाति व्यवस्था वाले राज्य में वह पेशा वंशानुगत आधार पर मुकर्रर था। इस स्थिति का कारण जाति व्यवस्था का बंधन नहीं अपितु घोर बेरोजगारी के संकट से ग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में वैकल्पिक काम के अभाव का होना है। संकटग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में सभी के लिए उपयुक्त रोजगार संभव ही नहीं है। आज यह बात किसी से छुपी नहीं कि बीए, एमए, आदि उच्च डिग्रीधारी नौजवान भी एक माली, चपरासी, और चौकीदार की पोस्ट के लिए और वह भी ठेके पर, मारे-मारे फिरते हैं।"

इस पर भी अभिनव सिन्हा ने आपत्ति उठाई कि बात सिर्फ बेरोजगारी की नहीं है कि किसी जाति को अपना पुराना पेशा करना पड़ रहा है, उदाहरण के तौर पर सफाई वाला पेशा। उनका कहना है कि "... आंशिक तौर पर यदि सफाई कर्मचारियों के पेशे में आनुवांशिक श्रम विभाजन अभी भी बना हुआ है, तो यह सिर्फ बेरोजगारी के कारण नहीं है, बल्कि बेरोजगारी इसमें एक कारक है। अन्य जातियों के मजदूरों में इस पेशे को अपनाने के प्रति अनिच्छा है और कई स्थानों पर अस्पृश्य जातियों के श्रमिकों को यह काम करने के लिए बाध्य भी किया जाता है। इसके अलावा, यदि पूंजीवादी व्यवस्था की बेरोजगारी किसी पेशे या सेक्टर में

जातिगत श्रम विभाजन को बनाए रखती है, तो इसे भी जाति व्यवस्था के एक आयाम का पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा सहयोजन और समायोजन ही कहेंगे। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आनुवांशिक श्रम विभाजन जाति व्यवस्था के कई आयामों में से एक आयाम है।" (पृष्ठ 31/65)

अभिनव सिन्हा ने ऊपर की पंक्तियों में जितनी भी बातें कहीं हैं उनमें मार्क्सवादी दृष्टि से किसी एक में भी रत्ती भर वजन नहीं है। **पहली बात** तो यह कि किसी भी पेशे में कहीं कोई आनुवांशिक श्रम विभाजन शेष नहीं है, लोगों की मजबूरियां है जिनकी वजह से उन्हें पूंजीवादी व्यवस्था में भूखों मरने से बचने के लिए कोई ऐसा पेशा अपनाना पड़ता है जो कि अतीत में किसी जाति से वंशानुगत तौर पर जड़ा था। पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों पर श्रम का अनुशासन डंडे से नहीं बल्कि भूख के आधार पर चलता है। मरता क्या न करता की स्थिति में कुछ भी करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसी श्रमिक के पेशे की पूंजीवादी स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। किसी श्रमिक के पेशे की स्वतंत्रता के अधिकार का हनन तब भी नहीं होता जब किसी एक पेशे के प्रति अन्यों की अनिच्छा हो। किसी पेशे के प्रति अनिच्छा रखने का अधिकार भी पेशे की स्वतंत्रता के अधिकार का ही एक पहलू होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में पेशे की स्वतंत्रता और श्रम शक्ति की उज़रत, भूख के श्रम अनुशासन पर आधारित होती है। लेनिन *राष्ट्रीय अर्थ-परिषदों की पहली कांग्रेस में किया गया भाषण (26 मई 1918)* में सामंती और पूंजीवादी श्रम-अनुशासन के अंतर को दिखाते हुए कहते हैं:

"हम जानते हैं कि सामंती जमींदार किस प्रकार अनुशासन पैदा करते थे। बहुसंख्यक जनता के लिए वह दमन, उत्पीड़न और कठोर कारावास की अविश्वसनीय यातना थी। भूदास प्रथा से पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था तक के संक्रमण को याद कीजिए।...उससे आप जानते हैं कि 1861 के बाद नई पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर संक्रमण, डंडों के पुराने सामंती अनुशासन से, व्यक्ति के खिलाफ मूर्खतापूर्ण, दंभपूर्ण और पाशविक अपमान तथा हिंसा के अनुशासन से पूंजीवादी अनुशासन तक, **भूख के अनुशासन तक, तथाकथित आजाद मजदूरी के अनुशासन तक** का संक्रमण, जो वस्तुत: पूंजीवादी गुलामी का अनुशासन था, ऐतिहासिक दृष्टि से आसान था।...**एक शोषक के अनुशासन से दूसरे शोषक के अनुशासन तक** के उस परिवर्तन में भी बर्षों का नहीं दसियों का प्रयत्न लगा;....ऐसा कठिन था पुराने सामंती अनुशासन से नए पूंजीपति वर्ग के पूंजीवादी अनुशासन तक का संक्रमण।" (संकलित रचनाएं, खंड 2, भाग 2, पृष्ठ 370)

कितना स्पष्ट है कि लेनिन ने पूंजीवादी अनुशासन को भूख का अनुशासन और तथाकथित आजाद मजदूरी का अनुशासन कहा है और यही बात हमने कही है कि पूंजीवादी व्यवस्था में किसी व्यक्ति के पेशे की स्वतंत्रता का अधिकार भी दिखावटी और कागज़ी अधिकार होता है। यहां राज्य पेशा चुनने के लिए किसी को बाध्य नहीं करता बल्कि भूख का अनुशासन तय करता है। स्टालिन भी लिखते हैं:

"पूंजीवादी समाज में उत्पादन के संबंधों की बुनियाद यह है कि उत्पादन के साधनों के मालिक पूंजीपति होते हैं न कि उत्पादन में काम करने वाले मजदूर, जो पगार पर मजदूरी करते हैं। इन्हें पूंजीपति न मार सकता है, न बेच सकता है क्योंकि वे निजी तौर पर आज़ाद हैं। लेकिन, उनके पास उत्पादन के साधन नहीं होते और **भूख से न मर जायें,** इसलिए उन्हें मजबूर होकर उन्हें अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति को बेचनी

पड़ती है।..." (द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, बोल्शेविक पार्टी का इतिहास , अनुवाद- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ 130)

पूंजीवादी व्यवस्था में भूख का अनुशासन ही मूल बात है जो सभी पूंजीवादी जनवादी अधिकारों और आजादियों को कागज़ी और औपचारिक बना देता है। **दूसरी बात** यह कि जहां कहीं भी 'अस्पृश्य' जातियों के श्रमिकों को कोई काम करने के लिए बाध्य किया जाता है तो इसका पूंजीवादी श्रम विभाजन से कोई लेना देना नहीं बल्कि यह कृत्य एक अपराध और अत्याचार की श्रेणी में आता है, क्योंकि यह राज्य की शक्ति द्वारा नहीं होता बल्कि निजी जोर जबरदस्ती पर आधारित होता है।

अभिनव सिन्हा अपनी दलील में खुद फंसे हुए हैं

अभिनव सिन्हा ने अपने ऊपर के उद्धरण में पूंजीवादी सत्ता-संविधान तथा क्रांति के चरण के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाते हुए दलील दी है कि:

"श्यामसुन्दर कहते हैं कि पूंजीवादी सत्ता और संविधान के मातहत मिलने वाले सभी अधिकार केवल औपचारिक और कागज़ी होते हैं, यानी वे वास्तविक नहीं होते हैं। यह मूर्खतापूर्ण बात है। अगर ऐसा है तो उन्हें जनवादी क्रांति का पक्षधर हो जाना चाहिए"।

अपनी इस दलील में अभिनव सिन्हा खुद ही बुरी तरह फंसे हुए हैं क्योंक भारत का पूंजीवादी संविधान जो अभिनव सिन्हा के अनुसार मजदूर वर्ग को वास्तविक जनवादी अधिकार प्रदान करता है 26 जनवरी 1950 से ही लागू है, तो फिर अभिनव सिन्हा और उनका दल तभी से क्रांति के समाजवादी चरण को स्वीकार क्यों नहीं करता? क्या अभिनव सिन्हा यह मानते हं कि जब संविधान लागू हुआ तब इसके तहत मजदूर वर्ग को दिए गए अधिकार कागज़ी और औपचारिक थे और बाद में वास्तविक बने जब सीएलआई ने समाजवादी क्रांति का नारा दिया?

9.

'मजदूर बिगुल' सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा दलित आरक्षण के मुद्दे पर 'तीसरे पक्ष' की अपनी नीति का बेईमानीपूर्ण छिपाव क्यों?

हमने अपने पहले दस्तावेज़ में 'बिगुल मजदूर दस्ता' की दलित आरक्षण बारे विरोधाभासी अवस्थिति पर सवाल उठाया था। इनकी वह नीति है न आरक्षण के पक्ष में, न विपक्ष में बल्कि 'तीसरे पक्ष' में। हमने बिगुल वालों पर यह आरोप भी लगाया था कि इस विरोधाभासी अवस्थिति के पीछे जरूर इनका कोई ऐसा मकसद है जिस पर ये पर्दा डाले रखना चाहते हैं। 'बिगुल' वालों ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में इस विरोधाभास का जो जवाब दिया है वह शत-प्रतिशत इन पर हमारे आरोप की पुष्टि करता है। हमारी आशंका थी कि 'बिगुल' वाले आरक्षण के संबंध में अपने 'तीसरे पक्ष' वाली अवस्थिति को छिपा लेंगे और वही हुआ। अभिनव सिन्हा ने अपने 'तीसरे पक्ष' की अब जिस तरह व्याख्या प्रस्तुत की है, असल में वह घुमा-फिराकर पक्ष ही है। और इस प्रकार के 'तीसरे पक्ष' से मोटा-मोटी सभी वामपंथी सहमत होंगे। पर

असल बात यह है कि अभिनव सिन्हा अपनी अवस्थिति की वह असल बात छिपा ही गये जिससे 'बिगुल' वाले आरक्षण के विपक्ष वाले खेमे में प्रवेश कर जाते हैं। आइए, पहले अभिनव सिन्हा द्वारा रखे गए आरक्षण बारे उनके 'तीसरे पक्ष' की व्याख्या को पढ़ें। वह लिखते ह:

"हमारी अवस्थिति यह है कि आरक्षण का विरोध किए जाने का विरोध यह नहीं है कि हम आरक्षण के बारे में आम दलित जनसमुदायों में यह विभ्रम पैदा करें कि आरक्षण की नीति से उनका उत्थान होगा या जाति का नाश होगा। चूंकि यह समझदारी दलित समुदायों के विशेषकर निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय जमातों में प्रभावी है, इसलिए हमारी अवस्थिति आरक्षण का विरोध करने वालों का विरोध एक यथार्थवादी सर्वहारा अवस्थिति से करना है, न कि यह कहकर बिना शर्त विरोध करना कि आरक्षण को बचाए रखने से दलित आबादी को कुछ हासिल होगा। इसका अर्थ स्पष्ट तौर पर यह है कि जो आरक्षण पहले से मौजूद है, उसे लागू करना सरकार की जिम्मेदारी है और उसे लागू करवाना दलित जनसमुदायों और प्रगतिशील जमातों का जनवादी कार्यभार है। लेकिन आरक्षण को दलितों की निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति के स्तरोन्नयन और जाति के नाश के रास्ते के तौर पर पेश करके 'जनवादी' विभ्रम पैदा करना (जैसा कि नीतीश कुमार ने हाल में 'महादलित' की श्रेणी बनाकर किया) और आरक्षण के नाम पर नयी-नयी श्रेणियां बनाकर व्यापक दलित, पिछड़े और आदिवासी मेहनतकश जनसमुदायों को ही आपस में लड़वा देना (जैसे कि गुज्जर और मीणा आपस में लड़ गए थे) शासक वर्ग का 'ट्रैप' है और आरक्षण का समर्थन इस अवस्थिति से नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद से सरकारी नौकरियां घट रही हैं और ऐसे में आरक्षण एक जनवादी अधिकार से ज्यादा एक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम में तब्दील हो चुका है; इसलिए नये-नये आरक्षणों के लिए लड़ना एक ऐसी चीज़ के लिए लड़ने के समान है, जो कि कहीं है ही नहीं। इसलिए हमारी अवस्थिति आरक्षण को खत्म करने के भी विरोध में है, लेकिन यह एक सामान्य निषेध नहीं है, बल्कि एक बाशर्त और तार्किक रूप में 'नुआंस्ड' अवस्थिति है। यह अवस्थिति आरक्षण के जाति-विरोधी रणनीति के तौर पर समर्थन किए जाने का भी निषेध है और यह आरक्षण को 'मैरिटोक्रेसी' आदि के नाम पर खत्म करने का भी निषेध है; और यह इसलिए संभव है क्योंकि आरक्षण के बिना शर्त समर्थन और बिना शर्त विरोध को हम परस्पर विरोधी अवस्थितियां मानते ही नहीं हैं। हमारे संगठन ने व्यावहारिक तौर पर भी हर जगह आरक्षण को लागू नहीं किए जाने या खत्म करने के प्रयासों का इसी 'नुआंस्ड' अवस्थिति के साथ विरोध किया है और साथ ही दलित जनसमुदायों में आरक्षण को लेकर कोई भी विभ्रम पालने की प्रवृत्ति पर चोट करते हुए राजनीतिक प्रचार भी किया है; जो भी हमारी संगठन की गतिविधियों से वाकिफ हैं, वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। आरक्षण के पक्ष और विपक्ष की निरपेक्ष अवस्थितियां एक गैर-मुद्दे को मुद्दा बनाती हैं। वह मुद्दा क्या है? वह मुद्दा यह है कि क्या आरक्षण की नीति से जाति का नाश हो जाएगा या दलित आबादी का सामाजिक-आर्थिक स्तरोन्नयन हो जाएगा? आंकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है कि हमारे देश में आरक्षण की नीति का पिछले लगभग चार दशकों का इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता है। साथ ही, आंकड़ों से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि जहां कहीं भी आरक्षण की नीति का सापेक्षिक रूप से अधिक सलीके से कार्यान्वयन हुआ है, वहां योग्यता से कोई खिलवाड़ नहीं हुआ है। उल्टे तामिलनाडु जैसे राज्यों में शिक्षा व स्वास्थ्य की व्यवस्था अन्य राज्यों के अनुसार कहीं बेहतर है। इससे और कुछ नहीं तो यह तो साबित हो ही जाता है कि आरक्षण की नीति के कार्यान्वयन से योग्यता

से खिलवाड़ का तर्क वास्तव में सवर्णवादी मानसिकता से पैदा होता है। इसलिए **अगर श्यामसुन्दर ने हमारी पूरी अवस्थिति को विस्तार से पढ़ा होता और समझा होता तो वह ऐसा अहमकाना सवाल नहीं उठाते** कि अगर आज सरकार आरक्षण की नीति को समाप्त कर दे और दलित आबादी इसके विरोध में सड़कों पर उतरे तो हम इसका विरोध करेंगे या समर्थन। हम दलित आबादी के आंदोलन का इस राजनीतिक प्रचार के साथ समर्थन करेंगे कि सरकार की इस जातिवादी और ब्राह्मणवादी नीति का बिना शक विरोध किया जाना चाहिए, मगर हमें इस नीति के लागू होने के नतीजों के प्रति यथार्थवादी होना चाहिए और कोई विभ्रम नहीं पालना चाहिए। **यह है 'तीसरा पक्ष', जोकि श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों की समझ में नहीं आता;** जोकि, नतीजतन छद्म विकल्पों की बाइनरी में ही उलझे रह जाते हैं।" (पेज 60-61/65, जोर हमारा)

क्योंकि हमने आरक्षण बारे इनके 'तीसरे पक्ष' वाली अवस्थिति पर सवाल उठा दिया इसलिए अपने जवाब में अपने 'तीसरे पक्ष' को तो पूरी तरह छिपा ही लिया और उलटे हमें ही अहमक और कठमुल्लावादी बता दिया। हम पुनः कह देना चाहते हैं कि अभिनव सिन्हा ने अपने 'तीसरे पक्ष' की जो ऊपर व्याख्या प्रस्तुत की है हम उससे मोटा-मोटी सहमत हैं। पर हकीकत यह है कि इनका 'तीसरा पक्ष' असल मं आरक्षण को हटा कर उसकी जगह 'समान शिक्षा, सबको रोजगार' के नारे को जगह देना है। हम नीचे उनके साहित्य से चुने गये तीन उद्धरणों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहेंगे और दिखाएंगें कि 'बिगुल' वाले किस भांति 'तीसरे पक्ष' के नाम से असल में आरक्षण को खत्म करा देने की मांग करने वालों के खेमे में प्रवेश कर जाते हैं। वे लिखते हैं:

(1) "...आरक्षण की मांग यदि 'सभी को समान एवं निःशुल्क शिक्षा तथा सबके लिए रोजगार' की लड़ाई की एक कड़ी होती या इसे आगे बढ़ाने में सहायक होती, तो बेशक इसका समर्थन किया जा सकता था।" (आरक्षणः पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष, पहला संस्करण जनवरी, 2008, पृष्ठ 18)

इसका सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि आरक्षण की मांग का समर्थन तभी किया जा सकता है जब यह मांग 'सभी को समान एवं निःशुल्क शिक्षा तथा सबके लिए रोजगार' की लड़ाई की एक कड़ी होती और यदि यह इस लड़ाई की कड़ी नहीं बनती तो फिर आरक्षण की मांग का समर्थन नहीं किया जा सकता। अब आइए इनका दूसरा उद्धरण लें:

(2) "हमारे विचार से **आरक्षण चाहे लागू हो या न लागू हो, दलितों और पिछड़ी जाति के गरीबों की स्थिति में कोई बुनियादी फर्क नहीं पड़ेगा। जाति-प्रश्न के समाधान की दिशा में यह एक छोटा-सा भी कदम नहीं है।**...इसीलिए, हमारा पक्ष यह है कि **हम आरक्षण का न तो समर्थन करते हैं, न ही विरोध। हम इस मुद्दे पर जनता के बंट जाने की स्थिति को ही एक कुचक्र मानते हैं और इसका विरोध करते हैं। शिक्षा और नौकरी में किसी प्रकार का आरक्षण नहीं बल्कि छात्र-युवा आंदोलन की आज एक ही केन्द्रित मांग हो सकती है 'सभी के लिए समान और निःशुल्क शिक्षा तथा काम करने योग्य हर व्यक्ति के लिए रोजगार।'** " (वही, पृष्ठ 24-25)

यानी 'तीसरा पक्ष' के नाम पर 'बिगुल' वाले सीधा बोल रहे हैं कि शिक्षा और नौकरी में किसी प्रक्रार का आरक्षण नहीं बल्कि छात्र-युवा आंदोलन की आज एक ही केन्द्रित मांग हो सकती है 'सभी के

लिए समान और निःशुल्क शिक्षा तथा काम करने योग्य हर व्यक्ति के लिए रोजगार।'। पाठक निर्णय कर सकते हैं कि इसे यानी जिसे ये 'तीसरा पक्ष' कह रहे हैं, यह 'तीसरा पक्ष' है अथवा विपक्ष? अब इनके तीसरे उद्धरण पर चलिए जहां अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम अपने 'शोध पेपर', जिसका शीर्षक है *जाति प्रश्न और उसका समाधानः एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण,* में लिखती हैं:

(3) **"आरक्षण आज एक ग़ैर-मुद्दा (non-issue) है, दलित मुक्ति के एजेंडे पर इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा।** अभी तक हम नौकरियों में आरक्षण की बात कर रहे थे। **जहां तक सत्ता-तंत्र में (चुनावी सीटों पर) आरक्षण की बात है, यह एक प्रतिक्रियावादी दलित-विरोधी मांग है।** कुछ दलितों के संसद और सरकार में पहुंच जाने से बस इतना होता है कि वे बुर्जुआ राज्यसत्ता के पुर्जे बन जाते हैं, पूरे फ्रेमवर्क का अतिक्रमण करके दलितों के लिए कुछ रैडिकल सुधार भी वे नहीं करवा सकते। छह दशकों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 56, जोर हमारा)

अब देखिए, दलित आरक्षण बारे इनकी तीसरी अवस्थिति क्या कहती है। ये कहते हैं 1) आरक्षण आज एक ग़ैर-मुद्दा है, इसलिए 2) दलित मुक्ति के एजेंडे पर इसे (यानी आरक्षण की मांग को) **विस्थापित करके** 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा। प्रश्न है कि क्या वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में सभी को एक समान शिक्षा हासिल होना संभव है? इनका कहना है कि ये दो बातें नौकरियों में आरक्षण बारे हैं। जिसका सीधा-सा मतलब यह है कि नौकरियां में आरक्षण के प्रावधान को खत्म करो और इसकी जगह 'समान शिक्षा, सबको रोजगार' की मांग रखी जाए। यानी जो अभी पास में है उसको छुड़वा दिया जाए और जिसका हासिल किया जाना इस व्यवस्था में असंभव है उसके लिए मांग उठाई जाए। हमें समान शिक्षा की मांग पर कोई आपत्ति नहीं पर समान शिक्षा का हासिल होना इस व्यवस्था में असंभव है। आगे ये तीसरी बात कहते हैं कि 3)संसद और विधानसभाओं की चुनावी सीटों के लिए दलित आरक्षण की मांग एक प्रतिक्रियावादी और दलित विरोधी मांग है। और इनका दावा यह है कि इनके संस्थान की मार्क्सवादी शोध टीम ने अपने 'शोध' के द्वारा ये सब निष्कर्ष निकाले हैं। पहली बात तो यह कि संसद और विधानसभाओं में अभी चुनावी सीटों के लिए दलितों द्वारा आरक्षण की कोई मांग ही नहीं है क्योंकि यह आरक्षण तो पहले ही मिला हुआ है। इसलिए असल में ये यह कहना चाहते हैं कि संसद और विधानसभाओं में दलितों को जो आरक्षण मिला हुआ है वह प्रतिक्रियावादी और दलित विरोधी है इसलिए उसे हटाने के लिए दलित आंदोलन खड़ा किया जाए और संसद तथा विधानसभाओं की चुनावी सीटों पर दलित आरक्षण खत्म करा दिए जाने के बाद या तो दलित उम्मीदवार संसद और विधानसभाओं के चुनाव ही न लड़े और यदि लड़े तो सवर्ण उम्मीदवारों के साथ सीधी चुनावी टक्कर में आयें। शुक्र है कि अभी इन्होंने ग्राम पंचायतों, ब्लॉक समीतियों, जिला परिषदों और शहरों में म्यूनिसिपल कमेटी के वार्डों में होने वाले चुनावों में दलितों के लिए किए गए आरक्षण के प्रावधानों को प्रतिक्रियावादी और दलित विरोधी करार नहीं दिया है।

10.

जाति व्यवस्था के संदर्भ में निषेध का निषेध (उत्सादन)

हमने अपने पहले दस्तावेज़ में अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम के 'शोध पेपर' *जाति प्रश्न और उसका समाधान: एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण* से एक अंश उद्धृत किया था जिसमें शोध टीम ने दर्शाया है कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध (उत्सादन) है। वही उद्धरण निम्नप्रकार से है:

"सारे ब्योरे को समेटकर सूत्रवत यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था भारतीय पूंजीवाद के आर्थिक मूलाधार का आज भी एक हिस्सा है और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना के स्तर पर इसकी मौजूदगी प्रचंड रूप से प्रभावी है। यह प्राक्-पूंजीवादी अधिरचना या उसका अवशेष नहीं है। यह एक पूंजीवादी अधिरचना है। यह एक पूंजीवादी जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पूंजीवाद द्वारा तंतुबद्ध ढंग से सहयोजित कर ली गई है। हेगेलीय शब्दावली का इस्तेमाल करें, तो कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का उत्सादन (sublation) हो गया है, यानी निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है। जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है।..." (वही, पृष्ठ 68-69, रेखांकन जोड़ा गया)

लेकिन निषेध का निषेध नियम को समझ पाना 'बिगुल' वालों के सामर्थ्य से बाहर की बात है। कारण यह कि इस नियम को समझने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया के 'निषेध' का अर्थ क्या होता है। विकास की प्रक्रिया में किसी विशिष्ट वस्तु अथवा प्रक्रिया के निषेध का अर्थ होता है उस वस्तु का गुणात्मक रूप से भिन्न अगली अवस्था में बदल जाना। द्वन्द्ववाद की आधारभूत शिक्षा है कि जब किसी भी वस्तु अथवा प्रक्रिया का गुणात्मक परिवर्तन के जरिए उसका निषेध होता है तो वह प्रक्रिया अपने विपरीत में बदलती है। जब कोई वस्तु अपनी मात्रात्मक गति की अवस्था में होती है ता वह वस्तु वही की वही बनी रहती है, बेशक उसमें कितने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन क्यों न हो जाएं। परंतु जब वह वस्तु मात्रात्मक परिवर्तन के चलते नोडल बिन्दु पर पहुंच जाती है तो वह वस्तु एक छलांग के जरिए गुणात्मक रूप से भिन्न अन्य वस्तु में बदल जाती है। और जब कोई वस्तु अपने भीतर मात्रात्मक परिवर्तन के चलते गुणात्मक रूप से किसी भिन्न वस्तु में बदलती है तो इसे ही उस पहले वाली वस्तु का निषेध कहा जाता है, जो पहले वाली वस्तु का विपरीत होता है। उदाहरण के तौर पर एक पूंजीवादी व्यवस्था में निरंतर मात्रात्मक परिवर्तन चलता रहता है, महत्वपूर्ण परिवर्तन भी आते रहते हैं लेकिन इन सब मात्रात्मक परिवर्तनों के बावजूद वह पूंजीवादी व्यवस्था, पूंजीवादी व्यवस्था ही बनी रहेगी जब तक कि वह समाजवाद में छलांग नहीं लगा जाती। समाजवाद, पूंजीवाद का निषेध होता है और इसीलिए पूंजीवाद का विपरीत होता है। लेकिन अभिनव सिन्हा इस बात पर हक्का बक्का हैं कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत कैसे हो सकता है! हमने अपने पहले दस्तावेज़ में समाजवाद को पूंजीवाद का विपरीत कहा था और अभिनव सिन्हा ने इस सम्बन्ध में अपनी अज्ञानतावश सवाल उठाया है कि द्वन्द्ववाद की ऐसी समझदारी 'विचित्र श्यामसुन्दरीय समझदारी' है। अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के इस ककहरे को नहीं समझते कि निषेध के द्वारा हर वस्तु अथवा प्रक्रिया अपने विपरीत में

बदलती है। और जो व्यक्ति द्वन्द्ववाद के इस ककहरे से अनभिज्ञ है वह द्वन्द्ववाद के नियम निषेध का निषेध को समझने का दावा भी नहीं कर सकता।

अभिनव सिन्हा भौचक्का हैं कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत कैसे!

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"तीसरी बात, ...हर सामाजिक पूर्णता के समान पूंजीवाद भी विपरीत तत्वों की एकता व संघर्ष से ही बनता है और इसके भीतर के विपरीत तत्व हैं श्रम व पृजी की शक्तियां। वास्तव में, इनमें से एक के भी समाप्त होने से दूसरा खुद-ब-खुद समाप्त हो जाता है, और साथ ही वह सामाजिक पूर्णता भी समाप्त हो जाती हे; यह है विपरीत तत्वों की एकता; और इस सामाजिक पूर्णता में ये तत्व सतत् संघर्षरत रहते हैं; यह है इनका संघर्ष जो इस सामाजिक पूर्णता, यानी पूंजीवाद को एक चरण से दूसरे चरण में ले जाते हैं। लेकिन क्या यह दूसरा चरण, यानी समाजवाद, पहले चरण, यानी कि पूंजीवाद का विपरीत है? नहीं। यदि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत है, तो फिर समाजवाद का विपरीत क्या हुआ? पूंजीवाद! द्वन्द्ववाद की इस विचित्र श्यामसुन्दरीय समझदारी का अर्थ यह हुआ कि समाजवाद विकास की प्रक्रिया में फिर से पूंजीवाद में तब्दील हो जाएगा! समाजवाद में भी सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग का संघर्ष जारी रहता है, इस फर्क के साथ कि अब प्रधान पहलू सर्वहारा वर्ग बन चुका है, क्योंकि वह राज्यसत्ता पर काबिज है, वह शासक वर्ग बन चुका है; लेकिन पूंजीपति वर्ग समाप्त नहीं हुआ होता और सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता को पलटने के लिए सतत् प्रयासरत रहता है। यदि सर्वहारा वर्ग इन प्रयासों को विफल कर, अपने अधिनायकत्व के मातहत क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए अपने आप को और इसके साथ सारे वर्ग विभाजनों को समाप्त करता है तो एक वर्गविहीन समाज, कम्युनिस्ट समाज का आरंभ होता है। यह वर्गविहीन समाज वर्ग समाज का विपरीत है और यह आदिम वर्गविहीन समाज का प्रतीतिगत दुहराव है, मगर वास्तव में, यह विकास की प्रक्रिया में एक नए, ऊंचे स्तर पर वर्गविहीन समाज की स्थापना है और इसलिए यह 'दुहराव' प्रतीतिगत है। इसलिए श्यामसुन्दर का यह उदाहरण कि समाजवाद पूंजीवाद के विपरीत है, एक बार फिर दिखलाता है कि इनको 'निषेध का निषेध' का नियम बिल्कुल समझ नहीं आया है।" (पेज 59/65, रखांकन जोड़ा गया)

अभिनव सिन्हा ने कितनी स्पष्टता के साथ अपनी खुद की पोल खोलकर रख दी। वह इतना भी नहीं जानते कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत होता है। उलटे द्वन्द्ववाद के इस आधारभूत सिद्धांत की अनभिज्ञता का हम पर आरोप लगाते हुए और हमारी खिल्ली उड़ाते हुए लिखते हैं कि, "श्यामसुन्दर का यह उदाहरण कि समाजवाद पूंजीवाद के विपरीत है, एक बार फिर दिखलाता है कि इनको 'निषेध का निषेध' का नियम बिल्कुल समझ नहीं आया है"। इसी बात का खुलासा कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत है या नहीं पूर्ण रूप से निर्णय कर देगा कि द्वन्द्ववाद और उसके नियमों की किस को समझदारी है और किस को नहीं। ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि किसी भी वस्तु अथवा प्रक्रिया का निषेध उस प्रक्रिया के गुणात्मक परिवर्तन के जरिए होता है। जब पूंजीवाद का मात्रात्मक परिवर्तन के जरिए और उसके गुणात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप समाजवाद आता है तो यह समाजवाद पूंजीवाद का निषेध कहलाता है और द्वन्द्ववाद के मौलिक सिद्धांत के अनुसार हर वस्तु का निषेध बिना अपवाद के उस वस्तु का विपरीत होता है। सिर्फ पूंजीवाद के निषेध

समाजवाद पर ही यह बात लागू नहीं होती बल्कि हर वस्तु के निषेध पर लागू होती है। हेगेल की रचना *साइंस ऑफ लॉज़िक* का सारांश पेश करते हुए लेनिन ने द्वन्द्ववाद के सोलह तत्वों को सूचीबद्ध किया है। द्वन्द्ववाद के सोलह तत्वों की इस सूची में संख्या 9 पर लेनिन ने निम्न प्रकार से लिखा है:

"Not only the unity of opposites, but the *transitions* of ***every*** determination, quality, feature, side, property into every other (into its opposite?)" (Elements of dialectics, CW-38, page 221)

अर्थात् "केवल विपरीतों की एकता ही नहीं बल्कि प्रत्येक निर्धारण, गुण, लक्षण, पहलू, गुणधर्म के प्रत्येक अन्य में संक्रमण (अपने विपरीत में?)"

माओ-त्से-तुङ भी लिखते हैं: "...दक्षिणपंथियों को, चाहे वे पार्टी के भीतर हों या बाहर, द्वन्द्ववाद की कोई जानकारी नहीं है—वस्तुएं जब अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाती हैं तो वे अपने विपरीत तत्वों में बदल जाती हैं।" (परिवर्तन होने लगा है, 15 मई1957, संकलित रचनाएं, ग्रंथ-5, पृष्ठ 417-18)

अभिनव सिन्हा भी माओ की रचना से दिए गए उद्धरण के अनुसार पूरी तरह दक्षिणपंथियों की भांति द्वन्द्ववाद से पूरी तरह अनजान हैं क्योंकि उन्हें भी यह नहीं पता कि प्रत्येक वस्तु अथवा विपरीतों की एकता गुणात्मक परिवर्तन के परिणामस्वरूप अपने विपरीत में बदलती है और पूंजीवाद भी एक 'विपरीतों की एकता' है, तो इसका भी अपने निषेध यानी गुणात्मक परिवर्तन के जरिए अपने विपरीत में बदलना अनिवार्य है यानी समाजवाद में। अभिनव सिन्हा ने अपनी नासमझी का खुलासा करते हुए कहा है कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत नहीं होता, तो वे बताएं कि पूंजीवाद का विपरीत क्या होता है? क्योंकि द्वन्द्ववाद के अनुसार पूंजीवाद को भी अपने विपरीत में ही रूपांतरित होना है। अभिनव सिन्हा के लिए यहां पर मार्क्स की लिखी सिर्फ एक पंक्ति का उद्धृत किया जाना उचित होगा ताकि उनको भी इस बात का पता चल जाए कि पूंजीवाद का विपरीत अथवा प्रतिवाद क्या होता है। मार्क्स लिखते हैं: "साम्राज्य का सीधा प्रतिवाद कम्यून था।" (*पेरिस कम्यून*, पृष्ठ 83)

अब रही बात समाजवाद के विपरीत की तो विकास की प्रक्रिया में किसी वस्तु का विपरीत आगे का कदम होता है पीछे का नहीं। विकास की द्वन्द्ववादी अवधारणा के अनुसार समाजवाद का विपरीत भी समाजवाद के आगे की अवस्था होगी, पीछे वाली नहीं। हांलाकि समाजवाद से पूंजीवाद की वापसी संभव है पर इसे समाजवाद का गुणात्मक परिवर्तन नहीं बल्कि पूंजीवाद की पुनःस्थापना कहा जाता है। यह विकास की दिशा में नहीं बल्कि उससे उलटी दिशा में है। अतः जब द्वन्द्ववाद में यह कहा जाता है कि विपरीतों की प्रत्येक एकता अपने विपरीत में बदलती है तो इसका अर्थ केवल विकास की दिशा में अगली अवस्था होती है न कि पीछे की। अब इतनी मामूली बातों तक का अभिनव सिन्हा को पता नहीं और बातें करते हैं पूरी तरह से लफ्फाजी भरी। खैर! आइए अपनी बात पर वापिस लौटे कि विपरीतों की प्रत्येक एकता अपने विपरीत में बदलती है। आइए! देखें कि लेनिन इसी बात को अपने पैम्फलेट *द्वन्द्ववाद के प्रश्न के संबंध में* में विकास की अधिभूतवादी और द्वन्द्ववादी संकल्पनाओं में अंतर करते हुए क्या लिखते हैं:

"पहली संकल्पना निर्जीव, निष्प्रभ तथा शुष्क है। दूसरी सजीव है। **केवल** दूसरी ही संकल्पना प्रत्येक अस्तित्वमान की 'स्वगति' की कुंजी मुहैया करती है, केवल **वही** 'छलांगों' की, 'निरंतरता के क्रमभंग' की, 'वैपरीत्य में रूपांतरण' की, पुराने के नष्ट होने की और नूतन के उद्‌भव की कुंजी मुहैया करती है।" (रेखांकन जोड़ा गया)

क्या अभिनव सिन्हा बता सकते हैं कि लेनिन के इस उद्धरण में 'वैपरीत्य में रूपांतरण' वाक्यांश की क्या व्याख्या है? यह 'वैपरीत्य में रूपांतरण' किसका है? असल में लेनिन यहां यह समझा रहे हैं कि अधिभूतवाद के विपरीत द्वन्द्ववाद ही वस्तुओं में उनकी स्वगति को समझने की कुंजी प्रदान करता है और द्वन्द्ववाद की इस कुंजी से ही हमें यह पता चलता है कि वस्तुओं में मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन में छलांग कैसे लगती है; कि उनकी निरंतरता में विच्छेद कैसे होता है; कि वस्तुएं अथवा प्रक्रियाएं अपने विपरीत में कैसे बदलती हैं; कि पुराने के निषेध से नूतन का जन्म कैसे होता है। शायद अभिनव सिन्हा ने लेनिन का यह पैम्फलेट पढ़ा तो होगा पर इसे समझ नहीं पाए। क्योंकि यदि लेनिन के इस पैम्फलेट को वह समझ सके होते तो ऐसा कदापि न कहते कि श्यामसुन्दर 'निषेध का निषेध' नियम को इस कारण से नहीं समझ पाया कि वह समाजवाद को पूंजीवाद का विपरीत समझता है। 'मजदूर बिगुल' सम्पादक अभिनव सिन्हा को लेनिन के ऊपर दिए गए दो उद्धरणों के जरिए शायद अब भी यह समझने में कठिनाई आ रही हो कि चीजें कैसे अपने विपरीत में बदलती हैं और समाजवाद किस आधार पर पूंजीवाद का विपरीत हो सकता है तो हम उनकी मदद के लिए कार्ल मार्क्स का एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो समझने में ज्यादा सरल है। मार्क्स लिखते हैं:

"उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित सहकारी समाज के भीतर उत्पादक अपनी पैदावारों का विनिमय नहीं करते; इसी तरह यहां पैदावारों में लगा श्रम भी उनके मूल्य के रूप में, उनमें निहित भौतिक गुण के रूप में प्रकट नहीं होता, क्योंकि अब **पूंजीवादी समाज के विपरीत**, वैयक्तिक श्रम परोक्ष रूप में नहीं प्रत्युत कुल श्रम के एक संघटक अंग के रूप में प्रत्यक्ष रूप में अवस्थित है। ..." (गोथा कार्यक्रम की आलोचना, पेज 16, जोर हमारा)

मार्क्स ने यहां समाजवादी समाज को पूंजीवादी समाज से दो पहलुओं से विपरीत बताया है। मूलभूत पहलू यह है कि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर पूंजीवादी निजी स्वामित्व की जगह सामूहिक स्वामित्व होता है और जिसके आधार पर समाजवादी व्यवस्था में वैयक्तिक श्रम सीधा और प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक श्रम का हिस्सा बन जाता है जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में होने वाला वैयक्तिक श्रम परोक्ष रूप से यानी विनिमय के माध्यम से ही सामाजिक श्रम में तब्दील होता है। इसी आधार पर साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है कि समाजवादी व्यवस्था की श्रम प्रक्रिया पूंजीवादी व्यवस्था की श्रम प्रक्रिया से विपरीत होती है और फलस्वरूप समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत होता है। मार्क्स ने तो पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को भी सामंती निजी सम्पत्ति के विपरीत बताया है जिसका मायने होगा कि पूंजीवादी श्रम प्रक्रिया भी सामंतवादी श्रम प्रक्रिया के विपरीत है। मार्क्स अपनी रचना *पूंजी* में लिखते हैं:

"राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी संपत्ति के दो भिन्न प्रकारों को सिद्धांतत: गड़बड़ा देता है। इनमें से एक प्रकार की निजी सम्पत्ति उत्पादक के अपने श्रम पर आधारित होती है और दूसरी प्रकार की निजी सम्पत्ति अन्य लोगों के श्रम से काम लेने पर आधारित होती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र यह भूल जाता है कि दूसरे प्रकार की सम्पत्ति न केवल पहले प्रकार की सम्पत्ति का **प्रत्यक्ष विलोम** होती है, बल्कि वह एकमात्र उसकी ही कब्र पर खड़ी हो सकती है।" (खण्ड-1, अध्याय 33, पृष्ठ 804, जोर हमारा)

अत: विश्व सर्वहारा के शिक्षकों की रचनाओं से ऊपर दिये गये तमाम उद्धरणों और चर्चा से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी भौतिक प्रक्रिया अपने गुणात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप अपने विपरीत में ही बदलती है। समाजवाद, पूंजीवाद का विपरीत है और पूंजीवाद, सामंतवाद का विपरीत है। अब हम अभिनव सिन्हा के अभ्यास के लिए यह प्रश्न उनके लिए छोड़ देते हैं कि वह बताएं कि सामंती व्यवस्था, दास व्यवस्था का विपरीत कैसे होती है और दास व्यवस्था, आदिम साम्यवादी व्यवस्था के विपरीत कैसे होती है?

सवाल है कि प्रत्येक वस्तु अथवा प्रक्रिया निषेध के द्वारा अपने विपरीत में क्यों बदलती है?

अभिनव सिन्हा इस बात पर हक्के बक्के हैं कि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत है! यदि उन्हें यह मालूम होता कि प्रत्येक वस्तु ही गुणात्मक परिवर्तन के जरिए यानी खुद के निषेध द्वारा अपने विपरीत में बदलती है फिर उन्हें समाजवाद का पूंजीवाद के विपरीत होने में कोई हैरानी न होती। इसलिए उनकी इस अज्ञानता को दूर करने के लिए यहां यह बताया जाना भी जरूरी है कि प्रत्येक वस्तु का अपने निषेध के जरिए अपने विपरीत में बदलना क्यों अनिवार्य है। यह तो वह जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु विपरीत तत्वों की एक इकाई होती है इस इकाई के दो पहलुओं में एक पहलू का प्रभुत्व होता है दूसरा उसके अधीन होता है। प्रभुत्व वाले पहलू को यदि इस इकाई का पॉज़ीटिव पहलू माना जाए तो उसकी अधीनता में रहने वाले उसके विपरीत पहलू का चरित्र नेगेटिव होगा। प्रभुत्व वाला पहलू वस्तु पर अपने हितों के लिए अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहता है यानी यथास्थिति को बनाए रखना चाहता है जबकि अधीनता में रहने वाला पहलू वस्तु को अपने शासन के लिए गुणात्मक रूप से बदल देना चाहता है। अब यदि प्रभुत्व वाले यानी पॉज़ीटिव पहलू के हितों में चलने वाली पूरी प्रक्रिया के आगे प्लस (+) का चिन्ह लगा दिया जाए तो पूरी प्रक्रिया को हम एक पॉज़ीटिव प्रक्रिया कह सकते हैं और जब अधीनता वाला पहलू अपने संघर्ष के द्वारा मात्रात्मक परिवर्तन के चरण को पूरा करते हुए गुणात्मक परिवर्तन के जरिए प्रभुत्व वाले पहलू की स्थिति में पहुंच जाता है और प्रभुत्व वाले पहलू को अपने वाली स्थिति में यानी अधीनता की स्थिति में धकेल देता है तो पूरी प्रक्रिया ही उलट जाती है। अर्थात् पूरी प्रक्रिया के आगे लगे प्लस (+) के चिन्ह की जगह ऋण (-) का चिन्ह लग जाएगा और पूरी प्रक्रिया पहले जिन हितों के लिए चल रही थी अब वह उससे विपरीत हितों के लिए चलने लगती है। इसे ही कहते हैं कि अपने निषेध के द्वारा हर वस्तु अपने विपरीत में बदल जाती है। एगेल्स ने हर प्रक्रिया a, b,c आदि को एक गणितीय उदाहरण से निम्न प्रकार से समझाया है कि कैसे हर प्रक्रिया अपने विपरीत में बदलती है, एंगेल्स लिखते हैं:

"गणित में भी यही हालत है। बीज गणित की किसी भी मात्रा को ले लीजिए। उदाहरण के लिए a को लीजिए। यदि उसका निषेध कर दिया जाए, तो हमारे हाथ में आ जाएगा -a (ऋण a)। यदि हम -a

को -a से गुणा करके इस निषेध का भी निषेध कर दें, तो हमारे पास होगा $+a^2$, अर्थात् हमारे पास फिर वही मूल धनात्मक मात्रा होगी, लेकिन इस बार उसका घात पहले से ऊंचा होगा; वह मात्रा अब अपने द्वितीय घात पर पहुंच गई होगी।..." (ड्यूहरिंग मत-खण्डन, पृष्ठ 218)

हर वस्तु का अपने विपरीत में बदलने का कारण इस तथ्य में निहित होता है कि वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन के जरिए होने वाले गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया में वस्तु का निर्माण करने वाले विपरीत पहलू एक दूसर के स्थान में प्रवेश कर जाते हैं। शासक शासित के स्थान पर चला जाता है और शासित शासक के स्थान पर आ जाता है। माओ के निबंध *अन्तरविरोध के बारे में* का अध्ययन करके कोई भी व्यक्ति इसे अच्छी तरह से समझ सकता है कि विपरीत पहलू कैसे एक दूसरे का स्थान लेते हैं और जिसके कारण प्रक्रिया अपने विपरीत में बदल जाती है। हर प्रक्रिया में अनिवार्य तौर पर नया पुराने का स्थान लेता है और नया पुराने का विपरीत भी होता है इसलिए हर प्रक्रिया अनिवार्य तौर पर अपने विपरीत में ही बदलती है। माओ-त्से-तुङ ने लिखा है:

"हम अक्सर 'नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेने' की चर्चा करते हैं। नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेना सार्वभौमिक और सदा के लिए अनुल्लंघनीय नियम है। कोई वस्तु अपने स्वरूप तथा अपनी परिस्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार की छलांगों के जरिए एक दूसरी वस्तु में बदल जाती है; नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेने की प्रक्रिया यही है।" (अन्तरविरोध के बारे में, अनुभाग-4)

ऊपर की गयी चर्चा का सारांश यह है कि हर पुराना नये में छलांग लगाता है और हर नया पुराने का विपरीत होता है क्योंकि वह पुराने का निषेध होता है। द्वन्द्ववादी विकास की प्रक्रिया के इसी अनुल्लंघनीय नियम के अनुसार समाजवाद पूंजीवाद का निषेध और पूंजीवाद का विपरीत होता है। अब यदि इस द्वन्द्ववादी दृष्टि से अभिनव सिन्हा और उनकी शोध टीम के इस दावे को परखा जाये कि 'वर्तमान पूंजीवादी जाति व्यवस्था' अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध (उत्सादन) है ता पहले हमें यह देखना होगा कि अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध क्या था। अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध अवश्य ही उस जाति व्यवस्था से गुणात्मक रूप से भिन्न कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो उसके विपरीत हो। क्योंकि हर वस्तु अथवा प्रक्रिया का निषेध उसका विपरीत ही होता है जैसा कि ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है। यदि अभिनव सिन्हा अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध ही नहीं बता सकते कि वह क्या था तो फिर उनके पास उसके निषेध का निषेध की बात करने का कोई आधार नहीं बचता। लेकिन अभिनव सिन्हा किसी चीज़ में महज़ मात्रात्मक परिवर्तन आने को ही उस चीज़ का निषेध मान बैठते हैं जबकि उस वस्तु का निषेध उसका विपरीत ही हो सकता है। अभिनव सिन्हा सवाल उठाते हैं कि क्या जाति व्यवस्था में 3000 वर्षों के अंतराल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ? अभिनव सिन्हा के लिए किसी चीज़ में परिवर्तन आना ही उसका निषेध हो जाना है। यही दलील देते हुए वह अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में लिखते हैं:

"पहली बात, क्या 3000 हज़ार वर्ष (30 लाख वर्ष?-लेखक) पहले अस्तित्व में आयी वर्ण-जाति व्यवस्था आज तक अपरिवर्तनशील रही है या उसमें कुछ परिवर्तन आये है? यदि श्यामसुन्दर मानते हैं कि 3000 वर्षों में जाति व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया है, तो धन्य हैं श्यामसुन्दर! अगर वह मानते हैं कि प्रकृति और समाज में हर परिघटना के समान जाति व्यवस्था भी अपने उद्भव से लेकर आज तक विकासमान

रही है, तो उसका विकास किस नियम से संचालित है? एंगेल्स ने *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* में बार-बार स्पष्ट किया है कि हरेक परिघटना के जन्म और उत्तरोत्तर विकास से लेकर अंत तक पर निषेध का निषेध नियम लागू होता है और यह विकास का आम नियम है। अब या तो श्यामसुन्दर मानते हैं कि जाति व्यवस्था पर एक अपवादस्वरूप विशेष नियम लागू होता है, जिसे माओ ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है: 'ताओ कभी नहीं बदलता, क्योंकि व्योम भी कभी नहीं बदलता', इस तर्ज पर श्यामसुन्दर का मोट्टो यह बना : 'जाति व्यवस्था कभी नहीं बदलती, क्योंकि श्यामसुन्दरीय मूर्खता भी कभी नहीं बदलती।' लेकिन हमें छह वर्षों में श्यामसुन्दर से हुई दो बहसों के आधार पर यह मोट्टो भी गलत लगता है; हमें लगता है कि श्यामसुन्दरीय मूर्खता बदलती है; इस रूप में, कि वह बढ़ती जाती है। इसलिए वह हमसे मांग करते हैं कि हम निषेध का निषेध के नियम को जाति व्यवस्था के संदर्भ में प्रमाणित करें, जबकि सच यह है कि जाति व्यवस्था के संदर्भ में इस नियम को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास का पथ ऐतिहासिक और आनुभविक तौर पर, किसी भी अन्य परिघटना के समान इसी नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ा है।"(पृष्ठ- 47-48/65)

पाठकगण इस ऊपर दिए गए लम्बे उद्धरण को पढ़कर समझ सकते हैं कि अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के निषेध और उसके निषेध का निषेध सिद्ध करने के लिए महज उसके तीन हजार साल के मात्रात्मक परिवर्तन की गुहार लगा रहे हैं। वह यह नहीं बता पाए कि इन 3000 वर्षों में जाति व्यवस्था का निषेध कब हुआ था? यानी जाति व्यवस्था कब अपने गुणात्मक परिवर्तन के जरिए अपने विपरीत में बदल गयी थी? यानी कब छलांग लगाकर गुणात्मक रूप से भिन्न किसी अन्य चीज़ में बदल गयी थी? यदि ऐसा कभी नहीं हुआ तो आप नहीं कह सकते कि जाति व्यवस्था का कभी निषेध हो गया था। निषेध का मतलब किसी प्रक्रिया की निरंतरता में विच्छेद अथवा छलांग के अलावा और कुछ नहीं होता। तो अभिनव सिन्हा से मुख्य प्रश्न यह है कि वह बताएं कि उनके अनुसार विगत तीन हजार वर्षों में जाति व्यवस्था की निरंतरता में विच्छेद कब आया था और उस विच्छेद के फलस्वरूप जाति व्यवस्था का विपरीत क्या था? व्योम का बदलना तो एक बात है पर व्योम का बदलना ही उसका निषेध नहीं होता। भौतिक जगत निरंतर परिवर्तनशील है पर भौतिक जगत का कभी भी निषेध नहीं हो सकता। निषेध का प्रश्न भौतिक जगत की विशिष्ट प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है स्वयं भौतिक जगत से नहीं। प्रकृति निरंतर बदलती है पर प्रकृति की आम प्रक्रिया का कभी निषेध नहीं हो सकता। प्रकृति की विशिष्ट प्रक्रियाएं अस्तित्व में आती हैं और अस्तित्व से चली जाती हैं यानी उनका निषेध हो जाता है, पर प्रकृति स्वयं न कभी अस्तित्व में आयी है और न ही कभी अस्तित्व से जायेगी। इसलिए अभिनव सिन्हा द्वारा व्योम के बदलने की बात को बीच में ले आना भ्रम फैलाने के अलावा और कुछ नहीं है। व्योम और प्रकृति निरंतर बदलते हैं पर वे सदैव वही के वही भी बने रहते हैं। और हर विशिष्ट प्रक्रिया में भी उसके परिवर्तन और उसके वही का वही बने रहने का अन्तरविरोध मौजूद रहता है। इसे किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया में जड़त्व और परिवर्तनशीलता का अन्तर्विरोध कहा जाता है। यानी वह वस्तु बदलती भी जाती है तथा वही की वही भी बनी रहती है। यदि तीन हजार सालों में जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध हो गया होता तो मार्क्स ऐसा कदापि न लिखते कि:

"...हिन्दुस्तान के अतीत का राजनीतिक पहलू कितना ही परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, उसकी सामाजिक स्थिति **अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी की पहली दशाब्दी तक** स्थायी रही। करघा और चरख़ा इस सामाजिक ढांचे की धुरी थे, जिनसे निरंतर असंख्य बुनकर तथा सूत कातने वाले पैदा होते रहते

थे। पुरातन काल से यूरोप हिन्दुस्तानी बुनकरों के तैयार किए हुए बेहतरीन कपड़े मंगवाता रहा और बदले में अपनी मूल्यवान धातुएं भेजता रहा, जो सुनार के पास पहुंचती रहीं।..अंग्रेज विजेता ने आकर हिन्दुस्तान के करघे को तोड़ा और चरख़े को तबाह किया।" (भारत में ब्रिटिश राज, 10 जून 1853, संकलित रचनाएं, खंड 1, भाग 2, पृष्ठ 249, जोर हमारा)

कोई भौतिक प्रक्रिया निरंतर बदलते हुए भी ज्यों की त्यों बनी रहती है जब तक उसमें गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता अथवा जब तक कि उसका निषेध नहीं होता। यानी वह प्रक्रिया बदलती भी रहती है और ज्यों की त्यों भी बनी रहती है। एंगेल्स लिखते हैं:

"**प्रतिवाद**–यदि किसी वस्तु की पीठ पर उसके प्रतिवाद ने सवारी गांठ रखी है, तो उसका स्वयं अपने से **विरोध** होता है, और साथ ही चिंतन में उसकी अभिव्यक्ति के भीतर भी स्वयं उसका विरोध निहित होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई वस्तु ज्यों की त्यों रहते हुए भी निरंतर बदलती जाती है, तो उसमें एक विरोध निहित होता है, क्योंकि उसके भीतर 'जड़ता' और 'परिवर्तन' का **प्रतिवाद** विद्यमान होता है।" (ड्यूहरिंग मत-खण्डन, अध्याय 12 का परिशिष्ट, पृष्ठ 548)

लेकिन यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के भीतर विद्यमान उसकी 'जड़ता' और उसके 'परिवर्तन' के प्रतिवाद को समझने की काबिलियत नहीं रखता तो वह व्यक्ति न तो किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया के 'निषेध' को समझ सकता है और न ही उसके 'निषेध का निषेध' को। सूर्य लगभग पांच अरब वर्ष से अस्तित्वमान है। प्रति सेकंड विकिरण के द्वारा बहुत भारी मात्रा में ऊर्जा इससे निकल जाती है। यानी प्रतिक्षण सूर्य में मात्रात्मक परिवर्तन पांच अरब वर्षों स निरंतर चल रहा है परंतु अभी तक इतने लंबे अरसे से चल रहे भारी परिवर्तन के बावजूद सूर्य का निषेध नहीं हुआ है। विकास की प्रक्रिया में किसी वस्तु के निषेध का मायने होता है उसका गुणात्मक रूप से किसी भिन्न वस्तु में बदल जाना। अभिनव सिन्हा क्योंकि जाति व्यवस्था की प्रक्रिया के भीतर महज़ उसकी परिवर्तनशीलता के आधार पर ही उसके निषेध को करार दे देते हैं और उसकी 'जड़ता' के पहलू को नजरअंदाज कर देते हैं। लेकिन जब तक जाति व्यवस्था की जड़ता मौजूद रहती है उसके निषेध की बात करना द्वन्द्ववाद के खिलाफ है। आइए! अभिनव सिन्हा क दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था की निरंतरता और जड़ता के पहलू बारे उन्हीं की लिखी कुछ पंक्तियों पर विचार करें। अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में लिखते हैं:

"इतना स्पष्ट है कि गुप्त काल से पहले ही, जो कि भारतीय इतिहास में सामंती उत्पादन सम्बन्धों की शुरुआत का दौर है, वर्ण-जाति व्यवस्था के तीन मूल आयाम पैदा हो चुके थे: आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता तथा खान-पान सम्बन्धी पूर्वाग्रह।" (पेज 24/65)

अर्थात् अभिनव सिन्हा के अनुसार गुप्त काल से पहले ही जाति व्यवस्था के 'तीन मूल आयाम' (सारसंग्रहवाद!) पैदा हो चुके थे, उन्हीं की निरंतरता बाद में बनी रही। यानी इनकी निरंतरता में कभी विच्छेद नहीं आया, दूसरे शब्दों में जाति व्यवस्था का कभी निषेध नहीं हुआ। अब और देखें कि अरविंद स्मृति न्यास का न्यासी मंडल जाति व्यवस्था की निरंतरता बारे क्या लिखता है:

"...मार्क्सवादी इतिहासकारों ने जाति प्रश्न के उद्‌भव और विकास-प्रक्रिया की व्याख्या किस प्रकार की है? जाति व्यवस्था अपने जन्म काल से लेकर अब तक की अवधि में, नष्ट होने की बजाय निरंतर मौजूद रही है, लेकिन यथावत, जड़वत मौजूद रहने की बजाय हर उत्तरवर्ती सामाजिक-आर्थिक संरचना द्वारा सहयोजित की जाती रही है, उनके बीच 'आर्टिक्युलेशन' होता रहा है और वह स्वयं को पुनर्नवा बनाती रही है।" (प्रकाशकीय--जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज-6)

यानी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था जिसकी निरंतरता, न्यासी मंडल के अनुसार, आज तक बनी रही आर जो कभी नष्ट नहीं हुई बल्कि न्यासी मंडल के अनुसार यह महज विभिन्न शासक वर्गों द्वारा समायोजित, सहयोजित की जाती रही और इस रूप में जाति व्यवस्था अपने उन्हीं तीन आयामों पर आधारित रहते हुए अपने को पुनर्नवा करती रही तो इस प्रकार का परिवर्तन जाति व्यवस्था में महज मात्रात्मक परिवर्तन की श्रेणी में ही आता है, गुणात्मक परिवर्तन की श्रेणी में नहीं। क्योंकि जाति व्यवस्था का गुणात्मक परिवर्तन जाति व्यवस्था के नष्ट हुए बिना संभव ही नहीं है। और अपने उद्‌भव काल से आज तक यदि जाति व्यवस्था नष्ट ही नहीं हुई तो इसका अर्थ यही है कि उसका निषेध भी नहीं हुआ। क्योंकि विकास की प्रक्रिया में किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया के निषेध के लिए उस वस्तु का नष्ट होना लाजिमी है, जैसे कि विकास की प्रक्रिया में पूंजीवादी व्यवस्था के निषेध के लिए पूंजीवादी व्यवस्था का नष्ट होना जरूरी है, नहीं तो समाजवादी व्यवस्था में उसका रूपांतरण होना संभव ही नहीं है। अभिनव सिन्हा जिस भांति जाति व्यवस्था के तीन हजार वर्षों के मात्रात्मक परिवर्तन को उसके निषेध का निषेध के रूप में दिखा रहे हैं ठीक यही समझ मिखाइलोव्स्की की थी जिसका आरोप वह हमारे ऊपर मढ़ रहे हैं। एंगेल्स ने जौ के बीज का उदाहरण देकर समझाया कि बीज का निषेध पौधा और पौधे का निषेध फिर जौ के बीज ज्यादा मात्रा में। लेकिन मिखाइलोव्स्की पौधे की निरंतरता के दौरान ही उसमें आए परिवर्तनों को अनेक निषेधों के रूप मं देखते थे। मिखाइलोव्स्की की व्याख्या थी कि डंठल ने बीज का निषेध किया, जब कली आ गयी तो डंठल का निषेध हो गया, फूल ने कली का निषेध कर दिया और फल ने फूल का निषेध कर दिया जबकि पौधे में परिवर्तन के लिहाज़ से कली, फूल आदि परिघटनाएं महज़ मात्रात्मक परिवर्तन की श्रेणी में ही आती हैं। ठीक इसी प्रकार जाति व्यवस्था में 3000वर्षों के दौरान कलियों और फूलों वाले परिवर्तन को ही अभिनव सिन्हा निषेध का निषेध के रूप में देख रहे हैं। जिस प्रकार जौ के बीज का निषेध उसके नष्ट हुए बिना संभव नहीं है और फिर जिस प्रकार जौ के पौधे का निषेध भी उसके नष्ट हुए बिना संभव नहीं है ठीक उसी प्रकार जाति व्यवस्था का निषेध जाति व्यवस्था के नष्ट हुए बिना संभव नहीं है। जाति व्यवस्था की निरंतरता बनी भी रहे और उसका निषेध का निषेध भी होता रहे तो निषेध का निषेध की यह समझ पूर्णत: गलत है। अत: निषेध का अर्थ सिर्फ बदलना नहीं बल्कि गुणात्मक रूप से भिन्न किसी वस्तु में बदल जाना होता है।

जाति व्यवस्था के बारे हम कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण और उनके इस निष्कर्ष से सहमत है कि जाति व्यवस्था का आधारभूत पहलू आनुवांशिक श्रम था जिस पर वह खड़ी थी। और जाति आधारित यह आनुवांशिक श्रम कुछ बदलावों के साथ पूरे औपनिवेशिक काल तक भी चलता रहा। भारतीय पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण के बाद जाति आधारित आनुवांशिक श्रम को संवैधानिक और कानूनी तौर पर समाप्त कर दिया गया तथा सभी नागरिकों को कानून की नजर में समानता और पेशे की स्वतंत्रता का अधिकार दिया

गया। यानी सत्ता हस्तांतरण के बाद गुणात्मक रूप से भिन्न एक नई श्रम प्रक्रिया का आरंभ हुआ जिसका आधार आनुवांशिक श्रम नहीं था और इस नयी श्रम प्रक्रिया के साथ ही जाति व्यवस्था का व्यवस्था के तौर पर निषेध माना जा सकता है परंतु क्योंकि यह निषेध क्रांतिकारी ढंग से नहीं हुआ इसीलिए जाति व्यवस्था का कलंक इसके अवशेषों के रूप में आज भी समाज के माथे पर कायम है।

निषेध का निषेध के नियम बारे

अभिनव सिन्हा हमारी आलोचना में लिखते हैं:

"श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि हेगेल के सिंथेसिस और निषेध का निषेध का सिद्धांत हर प्रक्रिया पर लागू नहीं होता। हेगेल के इस सिद्धांत से मार्क्स का फर्क केवल इस बात के लिए था कि हेगेल इस पूरी द्वन्द्वात्मक पद्धति को विचारों के जगत पर लागू करते थे, जबकि मार्क्स का कहना था कि विचार जगत केवल वास्तविक जगत का एक *मीडियेटेड* प्रतिबिम्बन होता है और निषेध का निषेध का यह नियम मूलत: वस्तु जगत पर लागू होता है, क्योंकि विचार जगत में जो द्वन्द्व होता है, वह इसी वजह से होता है और वह द्वन्द्व, वह विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष के विकास का परिणाम निषेध का निषेध के रूप में, कुण्डलाकार विकास के रूप में हो सामने आता है। दूसरे शब्दों में, यह पद्धति (method) सार्वभौमिक है और हर परिघटना पर लागू होता है, चाहे वह प्राकृतिक हो, सामाजिक हो या मानसिक हो। इस तर्क का कि यह नियम सभी चीजों पर लागू नहीं होता, हम एंगेल्स के हवाले से पहले ही खण्डन कर चुके हैं। लेकिन यहां श्यामसुन्दर ने जो उदाहरण दिया है, उससे भी आपको पता चल जायेगा कि इन महोदय को द्वन्द्ववाद के इस बुनियादी नियम की कोई समझ नहीं है। *पहली बात तो यह है कि थीसिस, एंटीथिसिस व सिंथेसिस का सिद्धांत हर ऐतिहासिक और प्राकृतिक प्रक्रिया पर लागू होता है; दूसरी बात सिंथेसिस अपने आप में थीसिस या/और एंटीथिसिस का विपरीत नहीं होती है; तीसरी बात, पूंजीवादी समाज में पूंजी और श्रम तथा पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग एक थीसिस व एंटीथीसिस की नुमाइन्दगी करते है;"* (पेज 59/65)

पहली बात तो यह कि जब हमने पहले दस्तावेज में पृष्ठ-23 पर यह लिखा कि "हेगेल के वाद, प्रतिवाद और संवाद के प्रयोग का अनेक स्थितियों में कोई स्कोप नहीं होता," तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह नियम प्रकृति, समाज और चिंतन यानी हर क्षेत्र में लागू नहीं होता बल्कि इसका अर्थ यह है कि यह नियम हर क्षेत्र में तो लागू होता है पर हर क्षेत्र में हर जगह लागू नहीं होता। 'निषेध का निषेध' का यह नियम विपरीतों की एकता और उनके संघर्ष पर तो आधारित है पर यह स्वयं विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम नहीं है जिसे कि इस नियम की तरह ही सार्वभौमिक मान लिया जाए। मार्क्स एवं एंगेल्स, हेगेल की भांति इस नियम को हर जगह लागू नहीं करते और न ही यह उस तरह लागू होता जैसे अभिनव सिन्हा विपरीतों की एकता को ही थीसिस और एंटीथीसिस बतलाकर इसे लागू करने की चेष्टा करते हैं। उनकी जानकारी के लिए मार्क्स-एंगेल्स की कृति *जर्मन विचारधारा* से एक उद्धरण प्रस्तुत है जहां स्टर्नर की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं:

"...But this illusion arises only if one takes politics as the basis of empirical history, or if, **like Hegel, one wants everywhere to demonstrate the negation**

of negation,…" (German Ideology, Progress Publishers Moscow, 1976, page 323, bold added)

अत: विपरीतों की एकता और संघर्ष के नियम की भांति 'निषेध का निषेध' नियम को हर जगह ही प्रमाणित करने की चाह नहीं रखनी चाहिए। दूसरी बात यह कि हमने अपने दस्तावेज में कहीं नहीं कहा कि 'सिंथेसिस अपने आप में थीसिस या/और एंटीथिसिस का विपरीत होती है', हमने महज़ यह कहा है कि अपने निषेध अथवा गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा हर चीज़ अपने विपरीत में बदलती है। और तीसरी बात यह कि जो अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि 'पूंजीवादी समाज में पूंजी और श्रम तथा पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग एक थीसिस व एंटीथीसिस की नुमाइन्दगी करते हैं', निषेध का निषेध नियम के संदर्भ में कतई सही नहीं है और इसे सही मानने के कारण ही अभिनव सिन्हा हर जगह और हर परिघटना पर 'निषेध का निषेध' नियम लागू हुआ देखते हैं। असल में 'निषेध का निषेध' के संदर्भ में थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथेसिस अपने आप में तीनों ही संपूर्ण इकाइयां होती हैं जो दो विपरीत पहलुओं से निर्मित होती हैं। विपरीतों की एकता से बनी किसी एक ही संपूर्ण इकाई को प्रतिपक्ष अथवा एंटीथीसिस भी कहा जाता है तथा हर प्रतिपक्ष के दो ध्रुव होते हैं, जिन्हें आम तौर पर किसी प्रतिपक्ष के पॉजीटिव और नेगेटिव ध्रुव कहा जाता है। देखें! एंगेल्स लिखते हैं:

"...सूक्ष्मतर अन्वेषण के बाद यह भी पता चलता है कि किसी **प्रतिपक्ष के दोनों छोर,** भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष, जैसे एक दूसरे के विरोधी हैं, वैसे ही अभिन्न भी हैं और अपने सारे विरोध के बावजूद वे एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त हैं।" (समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक, संकलित रचनाएं, खंड 3, भाग 1, पृष्ठ 159-60, जोर हमारा)

अत: वाद, प्रतिवाद और संवाद तीनों ही प्रतिपक्ष क्रमश: अपने-अपने भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष यानी दो विपरीत पहलुओं की एक इकाई होते हैं। निषेध का निषेध के लिए पहले वाद का निषेध होता है और उसके निषेध के परिणामस्वरूप उसका विपरीत प्रतिवाद आता है और फिर प्रतिवाद का भी निषेध होता है और दोनों का समन्वय होकर संवाद जन्म लेता है। यह संवाद वाद का एक ऊंचे स्तर पर पुनरुत्पादन होता है। हमने अपने पहले दस्तावेज के पृष्ठ 18 पर निषेध का निषेध नियम को थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथेसिस के चरणों द्वारा मार्क्स की रचना *दर्शन की दरिद्रता* के हवाले से स्पष्ट किया था। अभिनव सिन्हा के लिए मार्क्स के उस उद्धरण को हम फिर से शब्दश: उद्धृत कर रहे हैं। मार्क्स लिखते हैं:

"**वाद:** सामंती एकाधिकार, प्रतियोगिता से पहले।

"**प्रतिवाद:** प्रतियोगिता।

"**संवाद:** आधुनिक एकाधिकार जो उस हद तक सामंती एकाधिकार का निषध है जहां तक वह प्रतियोगिता से जुड़ा हुआ है और उस हद तक प्रतियोगिता का निषेध है जहां तक वह एकाधिकार है।

"इस तरह आधुनिक एकाधिकार, पूंजीवादी एकाधिकार है समन्वित एकाधिकार, निषेध का निषेध, विरोधों की एकता। यह शुद्ध, सामान्य, बुद्धिसंगत अवस्था वाला एकाधिकार है।" (दर्शन की निर्धनता, पृष्ठ 144, लोक चेतना-6)

अतः द्वन्द्ववाद के नियम निषेध का निषेध को समझने के लिए वाद (थीसिस), प्रतिवाद (एंटीथीसिस) अवधारणाओं की इस प्रकार की व्याख्या करना कि ये एक ही इकाई के दो ध्रुवों की नुमाइदंगी करते हैं बिल्कुल ही गलत है। निषध का निषेध नियम के संदर्भ में वाद (थीसिस), प्रतिवाद (एंटीथीसिस) और संवाद (सिंथेसिस) क्या होते हैं इसे अभिनव सिन्हा को मार्क्स के ऊपर दिए गए उद्धरण से सीख लेना चाहिए।

अब हम वाद, प्रतिवाद और संवाद के जरिए घटित होने वाले द्वन्द्ववाद के निषेध का निषेध नियम को जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध के प्रश्न पर लौटते हैं जिससे अभिनव सिन्हा अपनी शब्दों की बाजीगरी और लफ्फाज़ी के सहारे पीछा छुड़ाकर भागना चाहते हैं। अभिनव सिन्हा के अनुसार यदि अतीत की जाति व्यवस्था अपने निषेध का निषेध के जरिए वर्तमान में उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादित हुई है तो वह बताएं कि यदि अतीत की जाति व्यवस्था को 'वाद' की संज्ञा दी जाए तो उसका 'प्रतिवाद' क्या था? क्योंकि निषेध का निषेध नियम से कोई भी परिघटना जब विकसित होती है तो उस परिघटना का उसके पहले निषेध के द्वारा उसके प्रतिवाद, जो उस परिघटना का विपरीत होता है, आना अनिवार्य है क्योंकि उसके बाद ही वह संवाद के चरण में प्रवेश करेगी। दो टूक सवाल यह है कि अतीत की जाति व्यवस्था रूपी वाद का प्रतिवाद क्या था? और यदि अतीत की जाति व्यवस्था का प्रतिवाद ही नहीं आया यानी उसका निषेध ही नहीं हुआ फिर यह दावा करने का आधार क्या बच जाता है कि वर्तमान जाति व्यवस्था अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध है? सन् 1857 की असफलता का मूल्यांकन करते हुए अरविंद मार्क्सवादी संस्थान की शोध टीम लिखती है कि:

"...सुनिश्चित योजना के अभाव में, पुरानी जमीन पर खड़े होकर लड़ी गई यह लड़ाई जीती नहीं जा सकी और अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पेज 37)

क्या अभिनव सिन्हा बताएंगे कि जिस निषेध का निषेध नियम की गति को वे विपरीतों की एकता वाले नियम के समान सार्वभौमिक बता रहे हैं यानी जो हर पल और हर जगह पर जारी रहती हो तो फिर वह निषेध का निषेध करते हुए आगे बढ़ने वाली गति सन् 1857 में मर कैसे गई? और दूसरा सवाल यह कि सन् 1857 में निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर ही गयी थी और जिसकी आज तक भरपाई न हो सकी तो फिर अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध का निषेध इतिहास की कौन-सी गति के आधार पर हुआ?

क्या अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम प्राचीन रोमन दास श्रम के निषेध का निषेध (उत्सादन) था? क्या भारत की 'वर्तमान जाति-व्यवस्था' अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध (उत्सादन) है?

किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया के 'निषेध का निषेध' का क्या अर्थ होता है? द्वन्द्ववाद के नियम निषेध का निषेध पर अभिनव सिन्हा ने बहुत बड़ा झमेला खड़ा कर दिया। उनका कहना है कि हम इस नियम को नहीं समझते। और हमारा कहना यह है कि वह इस नियम को नहीं समझते। अब पाठक ही इसका निर्णय कर पाएंगे कि असल में कौन इस नियम को नहीं समझता। इसलिए इस नियम की यहां थोड़ी विस्तार से

चर्चा की जानी जरूरी है। अभिनव सिन्हा ने एक तो यह कहा कि अमरीकन दास प्रथा प्राचीन रोम की दास प्रथा का निषेध का निषेध थी और दूसरी बात वे यह कहते हैं कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' प्राचीन जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध है। इन दोनों ही मामलों की हम जांच करके दिखाएंगे कि अभिनव सिन्हा पूर्णत: गलत हैं। किसी वस्तु के विकास की प्रक्रिया में निषेध का निषेध इस प्रकार घटित होता है कि पहले उस वस्तु (वाद) का निषेध होता है जिसे प्रतिवाद कहा जाता है और फिर इस प्रतिवाद का भी निषेध होता है जिसके फलस्वरूप संवाद अस्तित्व में आता है और यह संवाद ही निषेध का निषेध होता है। यह संवाद ही वाद का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन कहलाता है। हमने मार्क्स की रचना *दर्शन की दरिद्रता* से एक उद्धरण इसे स्पष्ट करने के लिए कि वाद, प्रतिवाद और संवाद क्या होता है ऊपर दिया है और जिसे पहले दस्तावेज़ में भी दिया गया था, पर क्योंकि अभिनव सिन्हा उसे समझ नहीं पाए इसलिए उन्हें समझाने के लिए हम यहां एंगेल्स और लेनिन की रचनाओं से और कुछ उद्धरण दे रहे हैं। एंगेल्स ने लिखा है: "...इस निषेध का निषेध इस प्रकार होता है कि पुराने का एक उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन होता है;..." (ड्यूहरिंग मत-खण्डन, पृष्ठ 548)। अर्थात् 'पुराने' (वाद) का प्रतिवाद के चरण से गुजरते हुए उच्चतर स्तर पर 'पुनरुत्पादन'(संवाद--निषेध का निषेध) का अस्तित्व में आना। एंगेल्स लिखते हैं:

"परंतु तब वह भयानक निषेध का निषेध क्या है, जिसने श्री ड्यूहरिंग के जीवन को इतना कटु बना दिया है...जौ का एक दाना लीजिए। इस तरह के अरबों दाने पीसकर, उबालकर और उनकी बीयर बनाकर इस्तेमाल किए जाते हैं। लेकिन यदि इस तरह के एक दाने को उस तरह की परिस्थितियां मिल जाएं, जो उसके लिए सामान्य है, यदि वह उपयुक्त ढंग की मिट्टी पर आ पड़े, तो गर्मी और नमी के असर से उसमें एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन हो जाएगा। अर्थात् उसमें अंकुर निकल आएगा। **तब खुद उस दाने का अस्तित्व नहीं रहता, उसका निषेध हो जाता है, और उसके स्थान पर वह पौधा नजर आता है, जो इस दाने से पैदा हुआ है, और जो इस दाने का निषेध है**। किंतु इस पौधे की सामान्य जीवन क्रिया कैसे चलती है? वह बढ़ता है, उस पर फूल आते हैं, उसका निषेचन हो जाता है, और अंत में एक बार फिर वह जौ के दानों को जन्म देता है और जैसे ही ये दाने पककर तैयार होते हैं, वैसे ही पौधे का धड सूखकर मर जाता है; अर्थात् पौधे की बारी आने पर **उसका भी निषेध हो जाता है**। निषेध के इस निषेध के फलस्वरूप एक बार फिर हमें वह जौ का दाना मिल जाता है, लेकिन इस बार एक दाना नहीं, बल्कि पहले के दस गुने, बीस गुने या तीस गुने दाने हमारे हाथ में होते हैं।..." (ड्यूहरिंग-मत-खण्डन, पृष्ठ-216-217, जोर हमारा)

अर्थात् (1) पहले जौ के दाने (वाद) का निषेध होता है यानी उसका अस्तित्व नहीं रहता है, उसकी जगह पर जौ का पौधा (जौ के दाने का प्रतिवाद) आ जाता है और यह पौधा (प्रतिवाद) उस जौ के दाने का निषेध कहलाता ह। फिर (2) आगे चलकर जौ के पौधे (प्रतिवाद) का भी निषेध हो जाता है, वह सूख कर मर जाता है यानी उसका भी अस्तित्व नहीं रहता और उसके निषेध के फलस्वरूप हमें पहले से भी अधिक जौ के दाने (संवाद) प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन ये जौ के दाने (संवाद) पहले जौ के दाने (वाद) के निषेध का निषेध के फलस्वरूप उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादित हुए हैं। निषेध के निषेध का एंगेल्स द्वारा दिया हुआ एक उदाहरण और देखें। एंगेल्स लिखते हैं:

"इतिहास में भी यही चीज देखने को मिलती है। सभी सभ्य कौमों के यहां शुरु में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था।....वह मिटा दिया जाता है; उसका निषेध हो जाता है, और...वह निजी स्वामित्व में रूपांतरित हो जाता है। किंतु, जब खुद भूमि के निजी स्वामित्व के फलस्वरूप खेती का विकास एक और भी ऊंची अवस्था में पहुंचता है, तो अबकी बार उलटी बात होती है और निजी स्वामित्व उत्पादन के लिए बंधन बन जाती है।...तब लाजिमी तौर पर यह मांग उठती है कि इस निजी स्वामित्व का भी निषेध होना चाहिए और एक बार फिर उसे सामूहिक स्वामित्व में रूपांतरित कर देना चाहिए। लेकिन इस मांग का अर्थ यह नहीं है कि आदिम ढंग के सामूहिक स्वामित्व की पुन: स्थापना कर दी जाए; बल्कि इसका अर्थ यह है कि सामूहिक स्वामित्व के एक कहीं अधिक ऊंचे तथा विकसित रूप की स्थापना की जाए, जो उत्पादन के रास्ते में रोड़े का काम नहीं करेगा, बल्कि जो इसके विपरीप पहली बार उत्पादन को तमाम बंधनों से मुक्त कर देगा।...." (वही, पेज 220-221)

यहां भी वही बात है। इतिहास का आरंभ सामूहिक सम्पत्ति (वाद) के आधार पर हुआ। विकास क्रम में सामूहिक सम्पत्ति का निषेध हो गया, उसकी जगह निजी सम्पत्ति (प्रतिवाद) ने ले ली। यह निजी सम्पत्ति, सामूहिक सम्पत्ति का निषेध था। और फिर इस निजी सम्पत्ति के निषेध (संवाद) के जरिए सामूहिक स्वामित्व की पुन: स्थापना होगी लेकिन सामूहिक सम्पत्ति की यह पुन:स्थापना आदिम ढंग की सामूहिक सम्पत्ति की मात्र पुनरावृति नहीं होगी बल्कि उच्चतर स्तर पर सामूहिक सम्पत्ति की पुन:स्थापना होगी और आदिम ढंग की सामूहिक सम्पत्ति के निषेध का निषेध कहलाएगी। एक और उदाहरण एंगेल्स की इसी रचना से देखें, एंगेल्स लिखते हैं:

"यहां तक कि रूसो का इतिहास देखने का ढंग भी निषेध का निषेध है– शुरु में समानता, फिर असमानता के जरिए पतन, अंत में एक उच्चतर स्तर पर समानता की पुनर्स्थापना।" (वही, पृष्ठ 549)

अर्थात् इतिहास का आरंभ समानता (वाद) से हुआ, उस समानता का निषेध हो गया और उसके निषेध के तौर पर असमानता (प्रतिवाद) स्थापित हो गई और फिर इस असमानता का निषेध होकर उच्चतर स्तर पर समानता (संवाद) की पुन:स्थापना। आइए, अब एक लम्बा उद्धरण लेनिन की रचना *एक क़दम आगे दो क़दम पीछे* में पार्टी के भीतर नियमावली की पहली धारा पर विवाद एवं संघर्ष की मंजिलों की द्वन्द्ववादी व्याख्या और उपलब्धि बारे लिखते हैं:

"इनमें से हर मंजिल में, संघर्ष की परिस्थितियां और हमले का तात्कालिक लक्ष्य सारत: भिन्न हैं; हर मंजिल मानों एक सैनिक अभियान के दौरान लड़ी गयी एक लड़ाई है। जब तक हर लड़ाई की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक हमारे संघर्ष को बिल्कुल नहीं समझा जा सकता। लेकिन एक बार यदि यह अध्ययन कर लिया जाए तो हम पाएंगें कि संघर्ष का विकास सचमुच द्वन्द्ववादी ढंग से, विरोधों क जरिए होता है: अल्पमत बहुमत बन जाता है, और बहुमत अल्पमत में बदल जाता है; हरेक पक्ष को कभी बचाव की लड़ाई लड़ते-लड़ते हमले की लड़ाई शुरु कर देनी पड़ती है, तो कभी हमला करते-करते बचाव की लड़ाई छेड़नी पड़ती है; वैचारिक संघर्ष के आरंभ (पहली धारा) का 'निषेध होता है' और हर चीज़ पर थुक्का-फ़जीहत का रंग छा जाता है, लेकिन उसके बाद 'निषेध का निषेध' आरंभ होता है,

और विभिन्न केन्द्रीय संस्थाओं के न्यूनाधिक 'शांति और मेल' के साथ रहने का कोई ढंग निकालने के बाद हम फिर प्रारंभिक बिन्दु पर, यानी विशुद्ध वैचारिक संघर्ष की ओर लौट जाते है; **लेकिन यहां पहुंचते-पहुंचते यह 'वाद' 'प्रतिवाद' के समस्त परिणामों से समृद्ध हो गया है और वह एक अधिक ऊंचा 'संवाद' बन गया है** जिसमें पहली धारा को लेकर होने वाली एक अलग-थलग, आकस्मिक ग़लती ने संगठन संबंधी अवसरवादी विचारों की एक दिखावटी प्रणाली का सा रूप धारण कर लिया है, और जिसमें हमारी पार्टी के क्रांतिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में बंट जाने का इस तथ्य से जो सम्बन्ध है, वह सबके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। संक्षेप में, न केवल जई हेगेल के बताये हुए नियमों के अनुसार उगती है, बल्कि रूसी सामाजिक-जनवादी भी हेगेल के नियमों के अनुसार ही आपस में लड़ते हैं।" [*प) कुछ शब्द द्वन्द्ववाद के विषय में। दो क्रांतिया*, पृष्ठ 301-302, जोर हमारा]

लेनिन ने अपनी पार्टी के अन्दरूनी संघर्ष की मंजिलों को भी वाद, प्रतिवाद और संवाद के रूप मं चिन्हित किया। आरंभ में संघर्ष विशुद्ध वैचारिक संघर्ष से शुरु हुआ जिसे लेनिन ने 'वाद' की संज्ञा दी और फिर इस शुद्ध वैचारिक संघर्ष यानी वाद का निषेध हो गया और उसकी जगह थुक्का-फ़जीहत ने ले ली जिसे लेनिन ने 'प्रतिवाद' की संज्ञा दी और फिर निषेध का निषेध यानी उच्चतर स्तर पर विशुद्ध वैचारिक संघर्ष जिसे लेनिन ने 'संवाद' की संज्ञा दी। और लेनिन ने इस संघर्ष की तुलना ऊपर उद्धृत किये गए जौ के दाने के निषेध का निषेध वाले दृष्टांत से की। अतः अभिनव सिन्हा को लेनिन के इस उद्धरण से समझ लेना चाहिए कि लेनिन जब यूं कहते हैं कि निषेध का निषेध उच्चतर स्तर पर पुराने का 'प्रतीतिगत दुहराव' है तो इस 'प्रतीतिगत दुहराव' से उनका अभिप्राय 'संवाद' से ही है। यानी जब 'वाद' के निषेध से 'प्रतिवाद' और फिर इस 'प्रतिवाद' के निषेध से 'संवाद' की मंजिल आ जाती है तो यह 'संवाद' एंगेल्स के शब्दों में पुराने का अर्थात् 'वाद' का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन और लेनिन के शब्दों में 'प्रतीतिगत दुहराव' कहलाता है।

अब, जब अभिनव सिन्हा यह कहते हैं कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध है तो उन्हें पहले तो यह दिखाना होगा कि अतीत की जाति व्यवस्था (वाद) का निषेध हो गया था यानी उसका अस्तित्व मिट गया था और उसका स्थान जाति व्यवस्था के प्रतिवाद ने ले लिया था, जो जाति व्यवस्था का निषेध था। और फिर उन्हें यह दिखाना होगा कि जाति व्यवस्था के उस प्रतिवाद के निषेध द्वारा 'वर्तमान जाति व्यवस्था' (संवाद) यानी वाद की उच्चतर स्तर पर पुनःस्थापना हुई है। लेकिन क्योंकि जाति व्यवस्था के संबंध में ऐसा सिद्ध किया जाना असंभव है इसलिए अभिनव सिन्हा बच निकलने और पीछा छुड़ाने का रास्ता निकालते हैं और अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज में यह लिखते हुए टाल देते हैं कि:

"*वह हमसे मांग करते हैं कि हम निषेध का निषेध के नियम को जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रमाणित करें, जबकि सच यह है कि हमें जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में इस नियम को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास का पथ ऐतिहासिक और आनुभाविक तौर पर, किसी भी अन्य परिघटना के समान, इसी नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ा है।" (पेज 48/65)*

सवाल है कि यदि जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की परिघटना इसी नियम का यानी निषेध का निषेध के नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ी है जैसा कि अभिनव सिन्हा लिखते हैं तो फिर वे जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की इस परिघटना के सम्बन्ध में वाद, प्रतिवाद और संवाद के तीन चरणों को प्रमाणित करने से भाग क्यों रहे है? और शोध टीम 1857 की विफलता का मूल्यांकन करते हुए जब लिखती है कि इस विफलता के परिणामस्वरूप 'निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी' थी तो फिर अभिनव सिन्हा यह दावा किस आधार पर करते हैं कि भारत की जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास का पथ ऐतिहासिक और आनुभाविक तौर पर, किसी भी अन्य परिघटना के समान, निषेध का निषेध नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ा है? इसलिए हेगेलीय द्वन्द्ववाद का नियम निषेध का निषेध भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के अनुसार केवल विकास की उसी प्रक्रिया पर लागू हुआ प्रमाणित किया जा सकता है जहां वाद, प्रतिवाद और संवाद की मंजिलों को स्पष्ट तौर पर चिन्हित किया जा सके, हर जगह नहीं। लेनिन हेगेल की कृति '*तर्क का विज्ञान' के विषय-सारांश* में लिखते हैं:

"...From assertion to negation—from negation to 'unity' with the asserted—without this dialectics becomes empty negation, a game, or scepsis." (vol. 38, page-226)

अर्थात् वाद से वाद का निषेध (प्रतिवाद) और प्रतिवाद से वाद के साथ समन्वय (संवाद)-इसके बिना द्वन्द्ववाद एक खोखला निषेध, खेल अथवा संशयवाद में तब्दील हो जाता है। और अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के साथ यही खेल खेल रहे हैं क्यांकि उन्हें तो इतना भी पता नहीं कि वाद, प्रतिवाद और संवाद होते क्या हैं। वे तो पूंजीवादी व्यवस्था के अथवा किसी भी विपरीतों से बनी एक इकाई के दोनों ध्रुवों को ही वाद और प्रतिवाद समझते हैं, जैसा कि थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथेसिस का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा कि "पूंजीवादी समाज में पूंजी और श्रम तथा पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग एक थीसिस व एंटीथीसिस की नुमाइन्दगी करते है'। पाठक इसी से अंदाजा लगा सकते हैं कि अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद को और निषेध का निषेध नियम को समझने की कितनी सामर्थ्य रखते हैं। हेगेल ने संवाद (सिंथेसिस) यानी थर्ड टर्म को ही निषेध का निषेध बताया था। इस बारे लेनिन लिखते हैं:

"This negation of the negation is the third term, says Hegel...but it can also be taken as the *fourth*..counting *two* negations:" (ibid, page 228)

निषेध का निषेध बारे मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन की रचनाओं से ऊपर उद्धृत की गयी शिक्षाओं की रोशनी में पूर्णत: स्पष्ट है कि अभिनव सिन्हा को जब थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथेसिस की अवधारणाएं ही स्पष्ट नहीं हैं तो फिर निषेध का निषेध नियम को तथा उत्सादन को समझने का उनका दावा एक नितांत खोखले दावे के अलावा कुछ नहीं है।

अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम:

अभिनव सिन्हा ने भारत की 'वर्तमान जाति व्यवस्था' को अतीत की जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध (उत्सादन) सिद्ध करने के लिए अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम की आड़ ली है। वह अपने 65 पृष्ठोय दस्तावेज में लिखते हैं:

"मार्क्स ने *गुंडरिस्से* और *थियरीज़ ऑफ सरप्लस वैल्यू* में भी उत्तरी अमेरिकी पूंजीवाद में दास प्रथा के समेकन, सहयोजन और समायोजन पर चर्चा की है और बताया है कि अमेरिकी प्लाण्टेशन का मालिक जो कि दास श्रम से उत्पादन करता है, वह पूंजीपति है, न कि दास स्वामी। यहां बस यह हो रहा है कि भूस्वामी और पूंजीपति, दोनों की ही भूमिका वह निभा रहा है। यह ज़रूर है कि मुक्त उजरती श्रम की अनुपस्थिति के कारण पूंजीवादी उत्पादन पद्धति एक विशिष्ट रूप में मौजूद है, मगर यह भूला नहीं जाना चाहिए कि दासों के पजनन और उनसे अतिरिक्त श्रम निकलवाने की पूरी प्रक्रिया अब पूंजीवादी तौर-तरीकों से संचालित की जा रही है। मार्क्स के लिए यह स्पष्ट है कि यह दास प्रथा क्लासिकीय प्राचीन युग की रोमन या यूनानी दास प्रथा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने इसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदला है, सहयोजित और समायोजित किया है; दूसरे शब्दों में कहें, तो उत्सादित किया है। मार्क्स के ऐसे उद्धरणों को यहां भारी मात्रा में पेश किया जा सकता है,...इस*लिए पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात वैसी ही की जा सकती है जैसे कि पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा की बात की जा सकती है; पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करने को 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' के समतुल्य समझना श्यामसुन्दर के बौद्धिक दिवालियेपन को ही दिखलाता है।*" (पेज 30/65, रेखांकन जोड़ा गया)

अभिनव सिन्हा और उनके दल ने सर्वहारा की जागृति, उद्‌बोधन, प्रबोधन का 'बीड़ा' उठाया हुआ है और वर्तमान काल को वे सर्वहारा का प्रबोधन काल कहकर पुकारते हैं। लेकिन सर्वहारा का प्रबोधन वे क्या ख़ाक करेंगें जब उन्हें खुद ही द्वन्द्ववाद से जुड़ी अवधारणाओं वाद, प्रतिवाद और संवाद आदि तक के बारे में आज तक भी स्पष्टता नहीं है। अपनी ऐसी स्थिति में इस प्रकार के लोग जागृति के नाम पर सर्वहारा तथा छात्रों-नौजवानों की आंखों में जाने-अनजाने द्वन्द्ववाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की शिक्षाओं बारे भ्रम फैलाने का ही काम कर सकते हैं। अभिनव सिन्हा के दस्तावेज से दिए गए ऊपर वाले उद्धरण क इस अंश को लीजिए जहां वह लिखते हैं कि, "मार्क्स के लिए यह स्पष्ट है कि यह दास प्रथा क्लासिकीय प्राचीन युग की रोमन या यूनानी दास प्रथा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने इसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदला है, सहयोजित और समायोजित किया है; दूसरे शब्दों में कहें, तो उत्सादित किया है।" हम अभिनव सिन्हा को बताना चाहते हैं कि मार्क्स को केवल इतना ही स्पष्ट नहीं है कि अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम प्राचीन युग की दास प्रथा नहीं है, बल्कि उन्हें यह भी स्पष्ट है कि अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम प्राचीन युग की रोमन दास प्रथा के निषेध का निषेध भी नहीं है, जैसा कि अभिनव सिन्हा उसे सिद्ध करने की कुचेष्टा कर रहे हैं। यदि अभिनव सिन्हा यह कहते हैं कि अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा प्राचीन रोमन दास प्रथा के निषेध का निषेध थी तो अपने इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए उन्हें प्राचीन रोमन दास प्रथा को 'वाद' मानकर उसका 'प्रतिवाद' बताना होगा और फिर यह सिद्ध करना होगा कि पूंजीवादी दास प्रथा उस प्रतिवाद का निषेध थी यानी 'संवाद'। अब प्रश्न है कि प्राचीन गुलामी व्यवस्था का निषेध अथवा प्रतिवाद क्या था? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वह सामंतवाद था। अब सवाल है कि क्या अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा

सामंतवाद का निषेध थी? नहीं। तो फिर अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा प्राचीन रोमन दास प्रथा का निषेध का निषेध (उत्सादन) कैसे हुई? पुरानी समाज व्यवस्था के गर्भ से निकलने वाली हर नयी समाज व्यवस्था पुरानी समाज व्यवस्था का निषेध अथवा प्रतिवाद होती है जैसा कि मार्क्स ने *पेरिस कम्यून में* लिखा कि "साम्राज्य का सीधा प्रतिवाद कम्यून था"। आइए, देखें कि आरंभ से लेकर किस समाज व्यवस्था का निषेध कौन सी समाज व्यवस्था के द्वारा हुआ। स्टालिन लिखते हैं:

"इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों के पांच **मुख्य रूप** मिलते हैं: आदिम साम्यवादी, गुलामी की प्रथा, सामंती, पूंजीवादी और समाजवादी।" (द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद)

एक दूसरी से निकलती हुई इन सभी व्यवस्थाओं को हम यह कह सकते हैं कि आदिम साम्यवादी व्यवस्था का निषेध गुलामी की प्रथा; गुलामी की प्रथा का निषेध सामंती व्यवस्था; सामंती व्यवस्था का निषेध उजरती दासता पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था; पूंजीवादी व्यवस्था का निषेध समाजवादी व्यवस्था। आदिम साम्यवादी व्यवस्था से लेकर निषेधों अथवा प्रतिवादों की इस पूरी श्रृंखला में यह तो प्रमाणित है कि सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित समाजवादी व्यवस्था आदिम साम्यवादी व्यवस्था के निषेध का निषेध है लेकिन इसे किसी प्रकार भी साबित नहीं किया जा सकता कि अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा प्राचीन गुलामी प्रथा के निषेध का निषेध अथवा उत्सादन है। निषेध का निषेध में वाद, प्रतिवाद और संवाद का जो अंतर्सम्बन्ध वाद, प्रतिवाद और संवाद के चरणों के जरिए होता है वह अंतर्सम्बन्ध पुरानी गुलामी व्यवस्था और अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा के बीच कतई नहीं है। अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा पृथक से दासों के व्यापार (slave trade) एक नयी परिघटना थी, जब स्वतंत्र नोग्रो लोगों को जबरदस्ती पकड़-पकड़ कर गुलाम बनाया जाता था और उनकी सहमति के बिना खरीदा और बेचा जाता था। खुद अमरीका में तो उस वक्त प्राचीन गुलामी व्यवस्था के गुलामों का कोई अवशेष भी नहीं थे और अमेरिका तो सामंती दौर से गुजर कर भी पूंजीवादी देश नहीं बना था। अत: यह कहना कि अमरीकी शासक पूंजीपति वर्ग ने अपनी उत्पादन पद्धति की आवश्यकताओं के अनुसार प्राचीन रोमन दास प्रथा का सहयोजन और समायोजन करते हुए उसका उत्सादन किया और जो अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा के रूप में अस्तित्व में आया, एक आधारहीन कथन के अलावा और कुछ नहीं है। आइए, एक दूसरे पहलू से भी दासता के रूपों पर विचार करें। प्राचीन दास प्रथा की दासता का निषेध (प्रतिवाद) सामंती दासता थी और सामंती दासता का निषेध (प्रतिवाद) पूंजीवादी दासता है परंतु यह पूंजीवादी दासता प्राचीन रोमन दासता के निषेध का निषेध (संवाद) नहीं है क्योंकि उजरती श्रम पर आधारित पूंजीवादी दासता प्राचीन रोमन दासता का पुनरुत्पादन अथवा प्रतीतिगत दुहराव नहीं है बल्कि पूंजीवादी दासता स्वतंत्रता की प्रतीति लिए हुए है। अभिनव सिन्हा ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज से ऊपर उद्धृत किए गए अंश के अंत में जो आधारहीन निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है:

"इस*लिए पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात वैसी ही की जा सकती है जैसे कि पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा की बात की जा सकती है; पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करने को 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' के समतुल्य समझना श्यामसुन्दर के बौद्धिक दिवालियेपन को ही दिखलाता है।*" (पेज 30/65)

हमने इसे आधारहीन निष्कर्ष इसलिए बताया कि जब खुद अभिनव सिन्हा इस बात को बार-बार जोर देकर कहते हैं कि जाति व्यवस्था स्वयं में कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं रही तो अवश्य ही जो व्यवस्था कभी उत्पादन पद्धति नहीं रही उस व्यवस्था के उत्पादन संबंध भी होने संभव नहीं हैं। लेकिन अभिनव सिन्हा एक ऐसी व्यवस्था जो खुद कभी उत्पादन पद्धति रही ही नहीं, की तुलना उस व्यवस्था से कर रहे हैं जो खुद एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी और जिसके विशिष्ट उत्पादन सम्बन्ध थे। प्राचीन रोमन दास प्रथा एक उत्पादन पद्धति थी, उसके उत्पादन के सम्बन्ध थे; अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा भी एक उत्पादन पद्धति थी जो अपने उत्पादन के संबंधों पर आधारित थी। इसलिए यह स्वाभाविक है कि अमरीकी दास प्रथा को अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा के नाम से पुकारा जाए लेकिन जाति व्यवस्था जो अभिनव सिन्हा के अनुसार कभी उत्पादन पद्धति रही ही नहीं और न ही उसके कोई उत्पादन संबंध थे तो किस आधार पर अभिनव सिन्हा उसे अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा की भांति पूंजीवादी जाति व्यवस्था कह कर पुकार सकते हैं? ऐसा कहने से पहले वे ये बताएं कि इन दोनों की तुलना ही किस आधार पर की जा सकती है यदि जाति व्यवस्था खुद कोई उत्पादन पद्धति नहीं रही? आइए अब अभिनव सिन्हा द्वारा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज के पृष्ठ 30 पर *दर्शन की दरिद्रता* से दिए गए मार्क्स के उद्धरण पर विचार करें जो निम्न प्रकार से है:

"*प्रत्यक्ष दास पथा बुर्जुआ उद्योग की वैसे ही धुरी है जैसे कि मशीनरी, क्रेडिट, आदि। बिना दास प्रथा के आपके पास कपास नहीं होगा; बिना कपास के आपके पास कोई आधुनिक उद्योग नहीं रहेगा...दास प्रथा सर्वाधिक महत्व की आर्थिक श्रेणी है। बिना दास प्रथा के उत्तरी अमेरिका, सभी देशों में सबसे प्रगतिशील देश, एक पितृसत्तात्मक देश में तब्दील हो जाएगा। विश्व के नक्शे से उत्तरी अमेरिका को हटा दीजिये, और आपको अराजकता मिलेगी--आधुनिक वाणिज्य और सभ्यता का पूर्ण क्षरण*...इस प्रकार दास प्रथा, क्योंकि यह एक आर्थिक श्रेणी है, हमेशा से लोगों की संस्थाओं में मौजूद रही है। **आधुनिक राष्ट्रों ने अपने देशों में दास प्रथा को केवल ढंकने में सफलता हासिल की है, लेकिन नयी दुनिया में उन्होंने इसे बिना किसी नकाब के लागू कर दिया है।**" (मोटे अक्षर हमारे द्वारा)

अभिनव सिन्हा द्वारा दिए गए उद्धरण की तिरछी पंक्तियों का तात्पर्य महज इतना है कि मार्क्स ने अमरीकी पूंजीवादी प्रत्यक्ष दास प्रथा को वैसे ही धुरी बताया है जैसे कि मशीनरी आदि। लेकिन मार्क्स ने अन्य पूंजीवादी देशों और अमेरिका (नई दुनिया) की पूंजीवादी दासता में अन्तर स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि अन्य पूंजीवादी देशों में पूंजीवादी दासता ढकी हुई है और अमेरिका में वह प्रत्यक्ष और बेनकाब है। मार्क्स द्वारा किये गए अन्य पूंजीवादी देशों की दासता और अमेरिका की प्रत्यक्ष पूंजीवादी दासता में अन्तर से कदापि यह अर्थ नहीं निकलता कि मार्क्स अमरीकी प्रत्यक्ष पूंजीवादी दासता को प्राचीन रोमन दास प्रथा के निषेध का निषेध अथवा उत्सादन बता रहे हैं। उलटे मार्क्स ने तो अमरीकी पूंजीवादी गुलामी को अमरीकी जनतंत्र के माथे पर कलंक बताया था। मार्क्स ने अमरीकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को संदेश में लिखा था:

"जब तक मज़दूरों ने, उत्तर की वास्तविक राजनीतिक शक्ति ने, दास प्रथा को अपना जनतंत्र कलंकित करने दिया, जब तक वे नीग्रो के सामने, जिसे उसकी सहमति के बिना ख़रीदा तथा बेचा जाता था, यह डींग हांका करते थे कि गोरी चमड़ी वाले मज़दूर के पास अपने को बेचने तथा अपना स्वामी चुनने का बड़ा विशेषाधिकार है, तब तक वे श्रम की वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अथवा अपने यूरोपीय बंधुओं के

मुक्ति-संघर्ष में उनका समर्थन करने में असमर्थ रहे: परंतु प्रगति की राह में इस बाधा को गृह युद्ध की ख़ूनी लहरें बहा ले गयी हैं।" (मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएं, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 24)

उत्सादन की अवधारणा बारे अभिनव सिन्हा ने एक और पहलू से खुद ही अपने 'ज्ञान' की पोल खोल कर रख दी

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"पहली बात जो गौरतलब है वह यह है कि श्यामसुन्दर को निषेध का निषेध का नियम समझ में ही नहीं आया है। आइये देखते हैं कैसे। पहली बात तो यह है कि 'उत्सादन की अवधारणा पर ***एक और पहलू*** से भी विचार करना।' असंभव है, क्योंकि उत्सादन पर निषेध का निषेध के पहलू से ***ही*** विचार किया जा सकता है; बल्कि कहना चाहिए कि निषेध का निषेध के नियम को समझने के लिए उत्सादन की अवधारणा अनिवार्य और अपरिहार्य है; यह भी कहा जा सकता है कि निषेध का निषेध के नियम का सारतत्व उत्सादन ही है। इसलिए एंगेल्स ने 'इसके (निषेध का निषेध) के जरिए ***भी***' उत्सादन का घटित होना नहीं दिखलाया है; वस्तुत: निषेध का निषेध के नियम के व्यावहारिक रूप उत्सादन के जरिये पहला निषेध और फिर दूसरा निषेध के जरिए ***ही*** प्रदर्शित किये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर निषेध का निषेध के नियम और उत्सादन को दो अलग चीज़े समझते हैं, जबकि एक दूसरे की सारवस्तु है।..." (पेज 45/65)

हमने अपने पहले जारी किए गए 25 पृष्ठीय दस्तावेज़ के पृष्ठ 18 पर लिखा था, "यहां पर हेगेलीय उत्सादन की अवधारणा पर एक और पहलू से भी विचार करना भी प्रासंगिक होगा और वह पहलू है द्वन्द्ववाद का निषेध के निषेध का नियम।" हमारे इसी कथन को अभिनव सिन्हा ने अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ के ऊपर दिए गए अंश में आलोचना का मुद्दा बनाया है। उनका कहना है कि 'उत्सादन की अवधारणा पर एक और पहलू से विचार करना' असंभव है क्योंकि उत्सादन की अवधारणा पर केवल एक ही पहलू से विचार किया जा सकता है। लेकिन जब हम यह लिखते हैं कि 'हेगेलीय उत्सादन की अवधारणा पर एक आर पहलू से भी विचार करना प्रासंगिक होगा' तो इस कथन में यह तथ्य अन्तर्निहित है कि ऐसा कहने से पहले उत्सादन की अवधारणा पर किसी अन्य पहलू से विचार कर चुके हैं। यानी कम से कम हमने अपने दस्तावेज़ में दो पहलूओं से विचार किया है। हैरानी की बात यह है कि उत्सादन को अवधारणा पर जिस पहलू से हमने पहले विचार किया और उस पहलू से संबंधित दृष्टांत दिए उन पर अभिनव सिन्हा ने इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं की कि इस पहलू से उत्सादन की अवधारणा पर विचार ही नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं उस पहले वाले पहलू की पुष्टि में जो दृष्टांत हमने दिए उनको अभिनव सिन्हा ने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए आधार भी बनाया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिन दो अलग-अलग पहलूओं से हमने उत्सादन की अवधारणा पर विचार किया और दृष्टांत दिए, उन पहलूओं के अन्तर को ही अभिनव सिन्हा समझ नहीं पाये। यदि वे इस अन्तर को समझ पाए होते तो फिर पहले वाले पहलू को अवश्य ही अपनी आलोचना का निशाना बनाते और उसे उत्सादन के पहलू के तौर पर खारिज़ करते। हम अपने पहले पर्चे से इस विषय पर आवश्यक अंश उद्धृत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है:

"गति के यांत्रिक रूप को लीजिए जोकि गति का एक सरलतम रूप है लेकिन गति का यह सरलतम रूप गति के उच्चतर रूप ऊष्मा में भी विद्यमान होता है पर ऊष्मा में यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर विद्यमान होती है। ऊष्मा, यांत्रिक गति की परिघटना की अपेक्षा एक उच्च संश्लिष्ट स्तर की परिघटना होती है जिसमें पूर्ववर्ती विकास को अंतर्वस्तु यानी यांत्रिक गति संसाधित रूप में मौजूद रहती है। विकास की प्रक्रिया में यह कोई प्रतिक्रियावादी चीज नहीं होती बल्कि एक आगे बढ़ी हुई मंजिल होती है। विद्युत गति भी यांत्रिक गति के बिना संभव नहीं है, यांत्रिक गति विद्युत गति में उत्सादित तौर पर विद्यमान रहतो है; रासायनिक और जैव गतियां, गति के और भी संश्लिष्ट रूप है जिनमें यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है। तो हम देखते हैं कि उत्सादन की प्रक्रिया के जरिए यांत्रिक गति, गति के उच्चतर रूपों में वस्तुनिष्ठ तौर पर उत्सादित रूप में मौजूद रहती है पर गति के उच्चतर संश्लिष्ट रूप के नामकरण में उसे कोई स्थान नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर हम रासायनिक गति को रासायनिक यांत्रिक गति नहीं कहते बल्कि महज रासायनिक गति ही कहते हैं। अब यदि 'हेगेलीय भाषा में' जातिवाद वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर मौजूद है तो इसे भी पूंजीवादी जातिवादी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता।"

अभिनव सिन्हा कहते हैं कि "उत्सादन पर निषेध का निषेध के पहलू से ***ही*** विचार किया जा सकता है" लेकिन जब हमने यह लिखा कि यांत्रिक गति, गति का एक सरलतम रूप है और वह गति के उच्चतर रूपों में जैसे ऊष्मा, रासायनिक गति, विद्युत गति और जैविक गति आदि में उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है तो इस पहलू से उत्सादन की अवधारणा निषेध का निषेध के जरिए होने वाले उत्सादन की अवधारणा से भिन्न है। जैसा कि हमने जौ के दाने वाले एंगेल्स द्वारा दिए गए दृष्टांत में देखा कि जौ के बीज का पहला निषेध होता है यानी जौ का अस्तित्व मिट जाता है और उसके निषेध के फलस्वरूप जौ का पौधा आता है और फिर उस पौधे का निषेध होता है और उसके निषेध के परिणामस्वरूप उच्चतर स्तर पर जौ के अनेक दाने प्राप्त होते हैं। एंगेल्स ने इस प्रक्रिया को जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की, 'पुराने का एक उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन कहा' और लेनिन ने इसे निम्न स्तर की परिघटना के उच्चतर स्तर पर कुछ विशेषताओं और गुणों का दुहराव, पुराने का प्रतीतिगत दुहराव बताया। लेकिन जब हम यांत्रिक गति के उत्सादन की बात करते हैं तो यांत्रिक गति का जौ के दाने की भांति निषेध नहीं होता और न ही उसका अपने निषेध का निषेध के जरिए उच्चतर स्तर पर जौ के दानों की तरह पुनरुत्पादन होता। क्योंकि यांत्रिक गति के पुनरुत्पादन कहने का अर्थ होगा कि उसकी निरंतरता भंग हो चुकी थी। अत: जब हम कहते हैं कि यांत्रिक गति गति के उच्चतर, संश्लिष्ट रूप रासायनिक गति में उत्सादित तौर पर मौजूद है तो यह यांत्रिक गति के जौ के दाने की भांति निषेध का निषेध की प्रक्रिया से न होकर एक प्रक्रिया का गुणात्मक परिवर्तन के जरिए दूसरी प्रक्रिया में छलांग लगाने के जरिए हुआ है और इस छलांग की प्रक्रिया के फलस्वरूप पहले की यांत्रिक गति का उन्मूलन भी हुआ है और छलांग के बाद यानी गति के उच्चतर रूप रासायनिक गति में वह बनी भी रही है। और गति के उच्चतर रूपों में हर छलांग के साथ यांत्रिक गति उत्सादित रूप में मौजूद रहती है। अर्थात् यांत्रिक गति को गति क उच्चतर रूपों में उत्सादित तौर पर मौजूद रहने के लिए अपने निषेध का निषेध की यानी डबल नैगेशन की प्रक्रिया से गुजरने की जरूरत नहीं है और न ही उच्चतर स्तर पर उसका पुनरुत्पादन होता है। यांत्रिक गति से विहीन गति का कोई भी उच्चतर रूप संभव नहीं है। यदि हम कहें कि यांत्रिक गति का भी जौ के दाने की तरह पहले निषेध होता है तो फिर हम पदार्थ को ही गतिहीनता की स्थिति में डाल

देते हैं। यह तो संभव है कि रासायनिक गति का किसी काल और स्थान में अस्तित्व न रहे; यह भी संभव है कि जैविक गति का किसी काल और स्थान में अस्तित्व न हो और धरती पर एक समय ऐसा था जब इस पर जैविक गति का जन्म नहीं हुआ था और आज भी वैज्ञानिक इस बात की खोज कर रहे हैं कि हमारे सौरमंडल में अथवा इसके बाहर कहीं जैविक गति विद्यमान है या नहीं। लेकिन समूचे जगत में ऐसा कभी भी और कहीं भी नहीं हो सकता कि यांत्रिक गति का अस्तित्व न रहे। यांत्रिक गति पदार्थ की गति का सरलतम और सार्वभौमिक रूप है और गति के सार्वभौमिक रूप का जौ के दाने की तरह निषेध नहीं हो सकता, यानी वह लुप्त नहीं हो सकती। इसलिए जब हमने अपने पहले पर्चे में यांत्रिक गति के रासायनिक गति में उत्सादित तौर पर मौजूद होने की बात कही थी तो हमारा यही तात्पर्य था कि यांत्रिक गति अपने निषेध के निषेध द्वारा यानी डबल नैगेशन द्वारा रासायनिक गति में विद्यमान न होकर गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपने उन्मूलन और साथ-साथ बने रहने के आधार पर मौजूद है। अब पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि जब हमने पहले यांत्रिक गति के उदाहरण से यह दिखाकर कि वह बिना अपने निषेध का निषेध के गति के उच्चतर रूपों में उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है तो फिर हमारे यह कहने से कि "उत्सादन की अवधारणा पर एक और पहलू से भी विचार करना भो प्रासंगिक होगा और वह पहलू है द्वन्द्ववाद का निषेध के निषेध का नियम।" अभिनव सिन्हा की परेशानी का क्या कारण हो सकता है? जबकि अभिनव सिन्हा यांत्रिक गति के रासायनिक गति में उत्सादित तौर पर मौजूद रहने की ऊपर दी गयी हमारी व्याख्या को अपने दस्तावेज़ में स्वीकार भी करते हैं जहां वह लिखते हैं: "रासायनिक गति और यांत्रिक गति के बीच एक चरण से दूसरे चरण में गुणात्मक संक्रमण का रिश्ता है,"।

जाति व्यवस्था की यांत्रिक गति से तुलना करते हुए अभिनव सिन्हा यह सिद्ध करने की कुचेष्टा करते हैं कि जिस भांति यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर गति के उच्चतर रूपों में मौजूद है यही बात जाति व्यवस्था पर भी लागू होती है और यह पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर मौजूद है, वह लिखते हैं:

"दूसरी बात, ऊपर के उद्धरण में श्यामसुन्दर यह स्वीकार कर रहे हैं कि यांत्रिक गति उत्सादित होकर रासायनिक गति में मौजूद रहती है, लेकिन चूंकि 'रासायनिक यांत्रिक गति' कहने की परंपरा नहीं है, इसलिए 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' भी नहीं कहा जाना चाहिए! यानी श्यामसुन्दर के दिमाग में जो बात कील की तरह फंसी हुई है, वह केवल नामकरण का मसला है! वैसे तो यह पूरी तर्क पद्धति ही बकवास है, लेकिन अगर पल भर को हम श्यामसुन्दर के इस बचकाने खेल को खेलें भी तो सवाल यह है कि बात अन्तर्वस्तु की होनी चाहिए न कि नामकरण पद्धति की; मूल प्रश्न तो यह था कि जाति व्यवस्था उत्सादित होकर पूंजीवाद में मौजूद है या नहीं; अगर है तो श्यामसुन्दर इसे अगर 'आबरा का डाबरा' कहना भी चाहते हैं, तो कह सकते हैं! इससे इस तथ्य पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि जाति व्यवस्था उत्सादित तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद है।" (पेज-41/65)

पहली बात तो हम यह स्पष्ट कर दें कि हम जाति व्यवस्था को आज व्यवस्था के तौर पर नहीं मानते क्योंकि यह आनुवांशिक श्रम पर आधारित अतीत की एक उत्पादन पद्धति थी। अब जाति व्यवस्था के विचारधारात्मक, मानसिकतागत और परंपरागत अवशेष वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की अधिरचना में मौजूद हैं। लेकिन अभिनव सिन्हा ने जाति व्यवस्था की तुलना भौतिक जगत में व्याप्त यांत्रिक गति से करते हुए यह

दलील दी है कि जाति व्यवस्था ठीक वैसे ही उत्सादित तौर पर वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद है जैसे कि यांत्रिक गति गति के उच्चतर रूप रासायनिक गति में मौजूद है। हम अभिनव सिन्हा से अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम के 'शोध पपर' से क्रमशः दो छोटे-छोटे उद्धरण देते हुए दो प्रश्न करना चाहेंगे। पहला यह कि शोध टीम के 'शोध पेपर' में संभावना जाहिर की गई है कि यदि भारत पर औपनिवेशिक कब्जा न होता तो यहां देश के भीतर की विकसित होती हुई उत्पादक शक्तियां जाति व्यवस्था को ध्वस्त कर डालती लेकिन उपनिवेशवाद ने ऐसा होने नहीं दिया। शोध टीम लिखती है:

"...हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतंत्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे **पूंजीवादी विकास की संभावनाएं मौजूद थीं जो जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं** क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे।"(जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, प्रथम संस्करण जनवरी 2014 पेज 32-33, जोर हमारा)

अभिनव सिन्हा से अब हम यह प्रश्न पूछते हैं कि यदि ऊपर अभिव्यक्त की गयी संभावना वास्तविकता में बदल जाती यानी जाति व्यवस्था ध्वस्त हो जाती और एक स्वस्थ, प्रगतिशील चरित्र की पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित हो जाती तो क्या फिर भी ध्वस्त की जा चुकी जाति व्यवस्था उस पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर विद्यमान रहती? दूसरी बात, सन् 1857 की असफलता का मूल्यांकन करते हुए जब अरविंद मार्क्सवादी संस्थान की शोध टीम ने लिखा कि: "...सुनिश्चित योजना के अभाव में, पुरानी जमीन पर खड़े होकर लड़ी गई यह लड़ाई जीती नहीं जा सकी आर अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है" तो अभिनव सिन्हा से अब दूसरा प्रश्न हमारा यह है कि जब 1857 की असफलता के साथ ही भारत के इतिहास की निषेध का निषेध करती हुई स्वाभाविक गति मर ही चुकी थी और जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी तो फिर निषेध का निषेध के जरिए जाति व्यवस्था का वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादन कैसे हो गया? क्योंकि 'निषेध का निषेध की प्रक्रिया के बिना किसी निम्नतर परिघटना का उच्चतर स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में उत्सादित होना संभव ही नहीं है'।

11.

दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' बारे

हमने अपने द्वारा जारी किए गए 25 पृष्ठीय दस्तावेज़ में आरएसएस, भाजपा आदि द्वारा दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' की दुहाई दिए जाने की खिल्ली उड़ाई थी और एकात्म मानववाद की इन संगठनों द्वारा दुहाई दिए जाने को दोगलापन बताया था। लेकिन अभिनव सिन्हा ने न तो हमारे द्वारा इनकी खिल्ली उड़ाए जाने की बात को समझा और न ही हमारे द्वारा इन संगठनों पर लगाए गए दोगलेपन के आरोप को और इन दोनों पहलुओं से आंख मूंदते हुए जान-बूझकर फिजूल का वितंडा खड़ा कर दिया। अभिनव सिन्हा ने हमारे दस्तावेज़ से इस बारे अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में निम्न अंश को उद्धृत किया है:

"असल में *यह एकात्म मानववाद का दर्शन उपनिषदों में वर्णित वेदांत दर्शन* है जिसे अंतिम रूप 9वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा दिया गया था जिसने भारत में चार पीठों की स्थापना भी की थी। शंकराचार्य की भी क्या विडंबना है! उनकी कथनी और करनी में कितना बड़ा विरोधाभास है। *एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की और दूसरी तरफ उस मनुस्मृति* की भी प्रशंसा की जो घोर सामाजिक असमानता यानी ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था की रक्षा का संविधान थी। आज भी कथनी करनी का यह दोगलापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक तरफ तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिए जाने और उसे पाठ्यक्रमों में लागू किए जाने के इरादे बना रहे हैं जिस भगवद्गीता में 'भगवान' श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के चार वर्णों की रचना उन्होंने हो की थी। (ज़ोर हमारा)" (पृष्ठ 2-3/65)

हमारे दस्तावेज़ से दिए इस उद्धरण की खिल्ली उड़ाते हुए अभिनव सिन्हा लिखते हैं:

"हमने यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि इसमें अन्तर्निहित मूर्खता को पूरी तरह से प्रदर्शित किया जा सके। इस उद्धरण से यह साफ तौर पर दिख रहा है कि श्यामसुन्दर न तो आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के विषय में जानते हैं और न ही दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' के बारे में। बेहतर होता कि वे उन दोनों ही विचारसरणियों के विषय में मूल स्रोतों को पढ़कर लिखते। पहली बात तो यह कि दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का सीधे तौर पर आदि शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदांत दर्शन से कोई रिश्ता नहीं है, हांलाकि खुद उपाध्याय यह दावा करते हैं कि उनके दर्शन के मूल आदि शंकर के अद्वैत दर्शन में ही हैं।...इस दर्शन में कोई मानववाद नहीं था और न ही आदि शंकर का ऐसा कोई दावा था। वास्तव में, उपाध्याय द्वारा इस दर्शन को उनके एकात्म मानववाद का स्रोत बताने का देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इसी वजह से इशारों में मज़ाक उड़ाया है। (देखें 'भारतीय दर्शन में क्या जीवित क्या मृत')। " (पेज 3/65)

यहां हम पाठकों के लिए अपने दस्तावेज़ से अभिनव सिन्हा द्वारा ऊपर दिए गए उद्धरण की अगली और पिछली पंक्तियों को शामिल करते हुए पुनः नीचे दे रहें हैं ताकि पाठक खुद समझ सकें कि हमारी बात का असल में क्या मतलब है, वह अंश निम्न प्रकार से है:

"आज आरएसएस, भाजपा और इनसे जुड़े अन्य संगठन अपने नेता दीन दयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' की बहुत दुहाई देने में लगे हुए हैं और देश के दलितों, मेहनतकशों, महिलाओं यानी सब को समझा रहे हैं कि इस दर्शन का मायने है कि सबको एक समान बल्कि एक ही समझना एवं किसी भी प्रकार के भेदभाव को न मानना। असल में यह एकात्म मानववाद का दर्शन उपनिषदों में वर्णित वेदांत दर्शन है जिसे अंतिम रूप 9वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा दिया गया था जिसने भारत में चार पीठों की स्थापना भी की थी। शंकराचार्य की भी क्या विडंबना है! उनकी कथनी और करनी में कितना बड़ा विरोधाभास है। एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की और दूसरी तरफ उस *मनुस्मृति* की भी प्रशंसा की जो घोर सामाजिक असमानता यानी बाह्मणवादी जाति व्यवस्था की रक्षा का संविधान थी। आज भी कथनी करनी का यह दोगलापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक तरफ तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के

रूप में मान्यता दिए जाने और उसे पाठ्यक्रमों में लागू किए जाने के इरादे बना रहे हैं जिस भगवद्गीता में 'भगवान' श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के चार वर्णों की रचना उन्होंने ही की थी। और कौन नहीं जानता कि हिन्दू ग्रंथों में साफ-साफ कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य पेट से और शूद्र पैरों से पैदा हुए हैं तथा इसी के अनुसार उनके व्यवसाय, अधिकार और कर्तव्य तय किए गए हैं। फिर दलित, सामाजिक असमानता की ढाल इस हिन्दुत्व को क्यों माने? 'एकात्मवाद' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' आदि के उद्घोष मनुवादियों, ब्राह्मणवादियों और हिन्दुत्व के पैरोकारों के मुंह से शोभा नहीं देते बल्कि ये नार उनके पाखंड को ही जाहिर करते हैं।"

पहली बात तो यह कि पाठक स्वयं देख लें कि हमने दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' को एकल उद्धरण चिन्हों (' ') में लिखा है। दूसरी बात यह कि हमने शंकराचार्य के 'एकात्म मानववाद' की कथनी और करनी के विरोधाभास को दिखाया है कि एक तरफ तो शंकराचार्य 'एकात्म मानववाद' की बात करते हैं और दूसरी ओर उस मनुस्मृति की प्रशंसा करते हैं जो घोर सामाजिक असमानता और ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था का संविधान है, यानी हमने साफ तौर पर शंकराचार्य के 'एकात्म मानववाद' के दर्शन का पाखंड जाहिर किया है। इसके बाद हमने आरएसएस, भाजपा आदि शंकराचार्य के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटने वालों को निशाना बनाते हुए साफ कहा है कि वही शंकराचार्य वाला दोगलापन और कथनी-करनी का अंतर आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है और 'एकात्म मानववाद' का ढाल पीटने वालों को एक और दोगलेपन का भी निशाना बनाया है कि एक तरफ तो ये दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्ब' की बात करें और दूसरी तरफ भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिए जाने की बात करें जिसमें श्रीकृष्ण 'भगवान' द्वारा साफ-साफ कहा गया है कि चारों वर्णों की रचना उन्होंने की है। हमारे द्वारा कही गई इन सभी बातों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि असल में न तो हम दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' को, न ही उनके मूल स्रोत जिसका कि वे दावा करते हैं, शंकराचार्य के एकात्म मानववाद को, मानववाद मानते हैं। अभिनव सिन्हा भी मानते हैं कि दीन दयाल उपाध्याय खुद दावा करते थे कि उनके 'एकात्म मानववाद' का मूल, शंकराचार्य का दर्शन है और उनके इस दावे पर हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन मानव मानव के बीच ही नहीं अपितु सभी प्राणियों में एक ही आत्मा के होने की बात करता है। अद्वैत का अर्थ ही होता है दो नहीं, बस एक। शंकराचार्य के वेदांत दर्शन का मूल वाक्य है: ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है तथा जीव भी ब्रह्म ही है। स्वामी विवेकानंद ने *वेदांत का स्वरूप तथा प्रभाव* विषय पर दिए गए एक भाषण में कहा है:

"...वेदांत का दावा है कि धार्मिक अंत:स्फुरण केवल एक ही नहीं हुआ, न केवल दिव्य मानव की एक अभिव्यक्ति ही हुई, भले ही वह कितना ही महान् क्यों न हो; अपितु, उस अनन्त एकत्व का मानव स्वभाव में प्रकाशन हुआ है तथा हम लोग जिसे नैतिकता, सदाचार और परोपकार कहते हैं, वह भी इसी एकत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। ऐसा क्षण भी आता है, जब हर मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह विश्व के साथ एक है और इसको वह समझे या न समझे, उसको प्रकट करने के लिए विकल हो जाता है। जिसे हम प्रेम तथा सहानुभूति कहते हैं, वह एकत्व की अभिव्यक्ति ही है। और यही हमारी नैतिकता और सदाचार का आधार है। यही वेदांत के विख्यात सूत्र **तत्त्वमसि**-'तू वही है'-में संक्षेप में कहा गया है।

"हर मनुष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि तुम उस विश्वात्मा से एक हो, अतः, हर जीवात्मा तुम्हारी ही आत्मा है। हर शरीर तुम्हारा ही शरीर है, इसीलिए दूसरों को चोट पहुंचाना अपने को ही चोट पहुंचाना है और दूसरों को प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है।..." (बोस्टन के ट्वेंटिएथ सेंचुरी क्लब में दिया गया भाषण, पृष्ठ 64, वेदान्त)

अतः जहां तक मानववाद का सवाल ह वह जैसा कि हमने ऊपर दिखाया न तो शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदांत दर्शन में है, क्योंकि एक तरफ तो शंकराचार्य अद्वैत की बात करते हैं और दूसरी तरफ मनुस्मृति को एक पूज्य ग्रंथ मानते हैं, और न ही दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' में है जो उसी दोगलेपन के शिकार हैं जिसके शंकराचार्य हैं। लेकिन दीनदयाल उपाध्याय के इस दावे को ख़ारिज़ नहीं किया जा सकता कि उनके 'एकात्म मानववाद' का मूल शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदांत में नहीं हो सकता जिसका सामाजिक दर्शन मानव-मानव के बीच अभेद यानी 'एकात्म मानववाद' ही हो सकता ह, जिसकी पुष्टि के लिए हमने ऊपर स्वामी विवेकानंद को उद्धृत किया है।

12.

कारस्तानी स्वामी दयानंद ने नहीं की बल्कि खुद अभिनव सिन्हा कर रहे हैं

हमने अपने पहले दस्तावेज़ में स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचना *संस्कार विधि* में वर्णित नामकरण संस्कार और यज्ञोपवीत संस्कारों के बारे में लिखा थाः

"...तुलसीदास जी की बात तो छोड़िए आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती जिन्होंने एक समाज सुधारक होने का नाम कमाया, वे भी वर्ण व्यवस्था के कितने कट्टर पक्षधर निकले। कहने को तो स्वामी दयानंद वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर स्वीकारते हैं लेकिन यह तो मात्र उनकी कथनी है, करनी में वे इसके उल्ट कहते हैं। स्वामी दयानंद ने मानव जीवन के संस्कारों को लेकर एक ग्रंथ लिखा है जिसका नाम है 'संस्कार विधि'। इस पुस्तक में उन्होंने मनुष्य जीवन के सोलह संस्कार बताए हैं, गर्भ से लेकर श्मशान में अंतिम संस्कार तक। इन्हीं सोलह संस्कारों में एक संस्कार 'नामकरण' संस्कार भी है अर्थात् जन्मे बच्चे का नाम धरने का संस्कार। इस बारे वे लिखते हैं कि "नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके दस दिन छोड़ ग्यारहवें व एक सौ एकवें अथवा दूसरे वष के आरंभ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे..."। कुछ आगे चलकर वे बच्चे का 'देव' नाम रखे जाने का उदाहरण देते हुए अलग-अलग वर्णों के बच्चों के नामों को निम्न प्रकार से सुझाते हैंः

"...ब्राह्मण हो तो देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त और शूद्र हो तो देवदास..."।

"अब देखिए! क्या यह घोर सामाजिक अन्याय नहीं है कि शूद्र के घर जन्में किसी बालक के नाम के पीछे उसके जन्म के ग्यारहवें दिन ही 'दास' का लेबल चस्पा कर दें और फिर दावा करें कि हम तो वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म, स्वभाव से मानते हैं जन्म से नहीं। 'संस्कार विधि' में दिए गए एक अन्य संस्कार का जिक्र करना भी प्रासंगिक होगा। वह संस्कार है 'उपनयन संस्कार' यानी बच्चे को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण कराए जाने वाला संस्कार। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और

वैश्य के घर जन्में बालक को ही उपनयन संस्कार का अधिकारी और पात्र बताया है। उन्होंने शूद्र के घर जन्में बालक का उपनयन संस्कार किया जाना नहीं लिखा और साथ में यह भी लिखा है कि उपनयन संस्कार का दिन ही वेदारंभ यानी वेदों के अध्ययन आरंभ करने का दिन होता है। अत: स्वामी दयानंद ने क्योंकि शूद्र के घर जन्में बालक का उपनयन संस्कार ही नहीं लिखा तो साफ है कि उस बालक को वेदों के अध्ययन का भी अधिकार प्राप्त नहीं होता। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में भी स्पष्ट लिखा है कि, **"जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शूद्र हो तो उसको मंत्रसंहिता (अर्थात् वेद) छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परंतु उसका उपनयन न करे यह मत अनेक आचार्यों का है।"** अब इसके बाद भी यदि आर्य समाज दावा करे कि वह वर्णों की व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं बल्कि गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर मानता है तो फिर यह एक खोखले दावे के अलावा और कुछ नहीं।" (पेज 3-4/25)

पाठकों से हमारा निवेदन है कि हमारे पहले दस्तावेज़ से दिए गए इस उद्धरण में हमने स्वामी दयानंद रचित *सत्यार्थ प्रकाश* से उद्धृत की गयी अब जिन दो पंक्तियों पर जोर दिया है उन्हें एक बार ध्यान से पढ़ें। क्या इन दो पंक्तियों में यह बात स्पष्ट नहीं है कि शूद्र का उपनयन संस्कार न किए जाने बारे जो मत स्वामी दयानंद ने प्रस्तुत किया है वह मत स्वामी दयानंद से पूर्व अनेक आचार्यों द्वारा दिया गया है, जिसे स्वामी दयानंद तो दोहरा भर रहे हैं? क्या स्वामी दयानंद रचित *सत्यार्थ प्रकाश* से उद्धृत इन दो पंक्तियों का दूर-दूर तक भी कोई यह अर्थ निकलता है कि हमने यह कहने कि कोशिश की हो कि शूद्र को उपनयन संस्कार से वंचित रखना स्वामी दयानंद की संस्कार विधि से ही शुरु हुआ है और यह स्वामी दयानंद की कारस्तानी ह? लेकिन अभिनव सिन्हा ने जान-बूझकर और गैर-ईमानदारी के साथ वह बात हमारे मत्थे मढ़ने की कोशिश की है जिसे हमने कहा ही नहीं। वह लिखते हैं:

"ऋग्वैदिक काल के बाद के सभी ग्रंथों व शुरुआती उपनिषदों जैसे कि 'एतरेय ब्राह्मण' आदि में स्पष्ट तौर पर ब्राह्मणों ने यह दर्ज किया कि शूद्र आबादी को उपनयन संस्कार व वेदों के अध्ययन या उनकी श्रुति का अधिकार नहीं है। दयानंद सरस्वती तो बस इसे दोहरा रहे थे। **श्यामसुन्दर को इस विषय में 'संस्कार विधि' पढ़कर पता चला है, इसलिए आपको मानना ही पड़ेगा कि यह वास्तव में दयानंद सरस्वती की कारस्तानी थी!"** (पृष्ठ 5/65, जोर हमारा)

पहली बात तो यह कि जब स्वामी दयानंद सरस्वती खुद ही लिख रहे हैं कि पूर्व के अनेक आचार्यों का यह मत है कि शूद्र का उपनयन संस्कार न किया जाए और उन आचार्यों के मत पर आधारित स्वामी दयानंद का भी यही मत है तो फिर क्या हमारे ऊपर यह इल्ज़ाम लगाया जा सकता है कि जैसे कि हमारा कहना या मानना हो कि शूद्र को उपनयन संस्कार से वंचित रखने की कारस्तानी स्वामी दयानंद ने पहली बार अपनी रचना *संस्कार विधि* में लिख कर की है? क्या अभिनव सिन्हा द्वारा ऐसा व्यवहार किया जाना यह नहीं दशाता है कि उनके इरादे नेक नहीं हैं? क्या अभिनव सिन्हा ने स्वामी दयानंद के लिखे ये शब्द कि 'यह मत अनेक आचार्यों का है' नहीं पढ़े? पढ़े तो जरूर हैं पर नीयत में खोट है। दूसरी बात यह जो शायद अभिनव सिन्हा को नहीं पता कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का दावा है और जिस पर उनके अनुयायी सभी आर्यसमाजी पूरा यकीन करते हैं कि किसी भी सामाजिक अथवा प्राकृतिक विषय पर स्वामी दयानंद का मत उनका निजी मत न होकर वेदमत होता है। स्वामी दयानंद खुद कहते हैं कि हर विषय पर उनका मत वेदमत है, वे वेदों

पर ऑथोरिटी हैं और उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं कही जो वेदानुकूल न हो। इसलिए अभिनव सिन्हा द्वारा की गई यह आपत्ति भी महत्त्वहीन है कि स्वामी दयानंद ने क्या पहली बार शूद्र को *संस्कार विधि* में उपनयन संस्कार से वंचित किया है क्योंकि उनका पहली बार कहना ही वेद वाक्य होता है। तीसरी बात यह कि जब हमने तुलसीदास द्वारा रचित *रामचरितमानस* के हवाले से यह कहा कि 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।।' तो क्या इससे अभिनव सिन्हा यह मतलब निकालेंगें कि ब्राह्मणवादी विचारधारा की इस प्रकार की अवधारणाओं को तुलसीदास ने पहली बार शुरु किया और यह उनकी कारस्तानी है? अभिनव सिन्हा अपने दस्तावेज़ में लिखते हैं:

"इसके बाद लगभग एक पृष्ठ में आर्यसमाज के दयानन्द सरस्वती के दर्शन के ब्राह्मणवादी चरित्र को बेनकाब किया है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी और जब भी आप कुछ अनावश्यक काम करते है, तो कुछ न कुछ गलती कर ही बैठते हैं। मिसाल के तौर पर, श्यामसुन्दर को यह लगता है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से दयानंद सरस्वती ने अपनी रचना 'संस्कार विधि' के द्वारा वंचित किया। देखिए वह क्या लिखते हैं; बकौल श्यामसुन्दर, ' 'संस्कार विधि' में दिए गए एक अन्य संस्कार का जिक्र करना भी प्रासंगिक होगा। वह संस्कार है 'उपनयन संस्कार' यानी बच्चे को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण कराए जाने वाला संस्कार। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के घर जन्में बालक को ही उपनयन संस्कार का अधिकारी और पात्र बताया है।' यहां दयानंद सरस्वती कोई नयी बात नहीं कह रहे थे। वास्तव में ऋग्वैदिक काल के समापन के साथ ही वैदिक आर्य समाज में वर्ग विभाजन की शुरुआत हो चुकी थी जो सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में लोहे की खोज और फिर अधिशेष उत्पादन बढ़ने के साथ मजबूत होते गए।" (4-5/65, जोर हमारा)

हमने ऊपर यह स्पष्ट कर दिया है कि शूद्रों को स्वामी दयानंद ने अपनी रचना *संस्कार विधि* में उपनयन संस्कार से वंचित अनेक आचार्यों के और अपने वैदिक मत के आधार पर किया है न कि शूद्रों के विरुद्ध पहली बार कोई 'कारस्तानी' की है जैसा कि अभिनव सिन्हा सोचते हैं। दूसरी बात यह कि अभिनव सिन्हा ने हमें उपदेश करते हुए कहा कि हमने जो लगभग एक पृष्ठ में आर्यसमाज के दयानन्द सरस्वती के दर्शन के ब्राह्मणवादी चरित्र को बेनकाब किया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यहां अभिनव सिन्हा का दोगला चरित्र साफ तौर पर उजागर हो जाता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर के बारे में तो वे हमारी इस आधार पर आलोचना करते हैं कि हमने भीमराव अम्बेडकर की बेबाक मार्क्सवादी आलोचना करने की बजाय दलितों को रिझाने के लिए तुष्टिकरण की नीति अपनाई; तथा इस दुविधा का आरोप लगाया कि श्यामसुन्दर यदि अम्बेडकर की आलोचना नहीं करता तो उसके कार्यकर्त्ता क्या कहेंगे और यदि करता है तो दलित साथी बुरा मान जाएंगे वगैरह वगैरह। अब हमारा अभिनव सिन्हा से प्रश्न है कि उनकी स्वामी दयानंद सरस्वती को लेकर क्या दुविधा है? वे ऐसा किस दवाब अथवा स्वार्थ में कहते हैं कि दयानंद सरस्वती के दर्शन के ब्राह्मणवादी चरित्र को बेनकाब करने की कोई जरूरत नहीं थी? क्या वह इस बात का खुलासा कर सकते हैं कि स्वामी दयानंद सरस्वती के ब्राह्मणवादी चरित्र की आलोचना के लिए उसी पैमाने और उसी आवश्यकता की क्यों जरूरत नहीं जिस पैमाने और जिस आवश्यकता की जरूरत डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों की आलोचना के लिए है?

प्रसंगवश हम अभिनव सिन्हा को यहां यह बता दें कि 15 अक्तूबर सन् 2002 को दशहरे के दिन हरियाणा के जिला झज्जर की दुलीना पुलिस चौकी में हिन्दू कट्टरपंथियों की भीड़ ने पांच दलितों को गौ-हत्या के झूठे आरोप में बेरहमी से पीट-पीटकर, पुलिस चौकी के भीतर जिंदा आग की भेंट चढ़ा दिया था। भीड़ में बजरंग दल, शिव सेना, और बीजेपी के 'गौरक्षकों' के अलावा 20-25 आर्यसमाजी नौजवान जो गुरुकुल झज्जर के विद्यार्थी थे, गुरुकुल के तत्कालीन आचार्य श्री विजयपाल की रहनुमाई में दुलीना चौकी पर जुड़ी उस हत्यारी भीड़ का हिस्सा थे और अगले दिन दैनिक ट्रिब्यून अखबार में गुरुकुल झज्जर के आचार्य श्री विजयपाल की ओर से एक ब्यान छपा था कि दुलीना चौकी पर मारे गए युवकों को दलित युवक कहकर न पुकारा जाए बल्कि उन्हें गौ-हत्यारे कहकर पुकारा जाए। जिन दोषियों पर हत्या के केस दर्ज हुए आचार्य विजयपाल और दूसरे दिग्गज आर्यसमाजी सन्यासी स्वामी रामदेव के गुरु हरियाणा गऊशाला संघ के अध्यक्ष आचार्य बलदेव ने दोषियों को बचाने के लिए कोशिशें की और रणनीतियां बनाईं। 7 अगस्त सन् 2010 को जब सात दोषियों को सेशन कोर्ट झज्जर ने उम्र कैद की सजा सुनाई तो इन्होंने 'गऊ बचाओ' का आह्वान किया था। हमारा यहां कहना यह है कि वर्तमान आर्यसमाज, इसके संस्थान तथा इनकी सोच संघ परिवार से भिन्न नहीं है। यहां इस बात का जिक्र किया जाना भी जरूरी है कि दुलीना पुलिस चौकी के भीतर जिंदा जला दिए गए पांच दलित युवकों की जघन्य वारदात बारे स्वामी अग्निवेश जी का एक लेख 19 अक्तूबर 2002 के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादकीय पृष्ठ पर HOLY COW, HOLY WAR शीर्षक से छपा था और जिस पर हरियाणा प्रदेश का सारा आर्यसमाज ख़फा था। वर्तमान में भी स्वामी अग्निवेश पर संघ परिवार के गुंडों द्वारा कई बार हमले किए जा चुके हैं लेकिन आर्यसमाज चुप रहता है और भीतर-भीतर खुश रहता है। इस सारी वार्ता का हमारा मकसद यह है कि अभिनव सिन्हा बताएं कि वह इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी और घोर ब्राह्मणवादी विचारधारा वाले दलित विरोधी आर्यसमाज की आलोचना किए जाने की आवश्यकता क्यों महसूस नहीं करते? दलितों को इस प्रकार की घोर प्रतिक्रियावादी और ब्राह्मणवादी ताकतों के प्रति सजग एवं सचेत करने पर अभिनव सिन्हा की आपत्ति का रहस्य क्या है? दलितों, 'अछूतों' के प्रति स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके आर्य समाज का क्या रुख था और उन्हें वे कितनी हीन भावना से देखते हैं क्या यह बात दलितों को मालूम नहीं होनी चाहिए?

दलितों को स्वामी दयानंद और उनका आर्य समाज कितनी हीन भावना से देखते हैं, इस सम्बन्ध में एक मिसाल और देखें। स्वामी दयानंद जी से प्रश्नकर्त्ता द्वारा प्रश्न पूछा गया कि "मनुष्य मात्र के हाथ की की हुई रसोई के खाने में क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मण से ले के चाण्डाल पर्यन्त के शरीर हाड़ मांस चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही चाण्डाल आदि के, पुनः मनुष्य मात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?" तो उन्होंने निम्न प्रकार से जवाब दिया:

"दोष है क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गंधादि दोष रहित रज वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना। भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का

शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है वैसा ही अपनी स्त्री का है तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान बर्तोगे?" (सत्यार्थ प्रकाश, दशम् सम्मुल्लास)

13.

हिन्दुत्वः फासीवादी और सॉफ्ट

हमने अपने पहले जारी किये गए 25 पृष्ठीय दस्तावेज़ में पृष्ठ 4 और 5 पर गांधी जी और कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी के हिन्दुत्व तथा आरएसएस और भाजपा के हिन्दुत्व की तुलना की थी जिसका मकसद महज़ इतना था कि दलित समुदाय हिन्दुत्व के इन दोनों प्रकारों, यानी सॉफ्ट हिन्दुत्व और हार्ड हिन्दुत्व, से सावधान रहे क्योंकि हिन्दुत्व के ये दोनों ही प्रकार जाति व्यवस्था और सामाजिक असमानता के पक्षधर हैं। लेकिन अभिनव सिन्हा ने वर्तमान स्थिति में हमारे इस मकसद के व्यावहारिक महत्व को न समझते हुए बहस को पंडिताऊ मोड़ दे दिया। वे लिखते हैं:

"श्यामसुन्दर हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा के विषय में भंयकर अज्ञान के शिकार हैं। उनके लिए हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा की निशानी सनातनी हिन्दू होना, वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में यकीन करना, गोरक्षा में यकीन करना और मूर्ति पूजा में यकीन करना है। यानी हिन्दू धर्म की एक विशिष्ट परम्परा और हिन्दुत्व विचारधारा के बीच कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि श्यामसुन्दर को गांधी भी हिन्दुत्ववादी लगते हैं और उनके अनुसार संघ परिवार के हिन्दुत्व और गांधी के हिन्दुत्व में बस इतना ही अन्तर है कि गांधी अपने हिन्दुत्व को थोप नहीं रहे थे और संघ परिवार अपने हिन्दुत्व को थोप रहा है! इससे ज्यादा अर्थहीन और अज्ञानतापूर्ण बात कोई नहीं हो सकती है। गांधी हिन्दू पुनरुत्थानवादी थे और सनातनी हिन्दू धर्म में उनका यकीन था, हालांकि उनका यह कहना कि मेरा वेदों, उपनिषदों और समस्त हिन्दू शास्त्रों में यकीन है, यह दिखलाता है कि स्वयं गांधी ने ये ग्रन्थ नहीं पढ़े थे।..." (पृष्ठ-5/65)

अब पाठक स्वयं देखें कि हमने वास्तव में क्या लिखा था और क्या हमने गांधी जी और कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी के हिन्दुत्व और आरएसएस तथा भाजपा के हिन्दुत्व में कोई बुनियादी अन्तर किया था या नहीं। हमने जो लिखा था उसके प्रासंगिक अंश निम्न प्रकार से हैं:

" '1920-22 में जब असहयोग आन्दोलन अपने चरम शिखर पर था और गांधी जी संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता थे, और जब उन पर यह जिम्मेदारी आती थी कि वह जो कहें, वह एक संयुक्त आन्दोलन के नेता के योग्य हो, उस समय उन्होंने ऐलान किया था कि, 'मैं सनातनी हिन्दू ह्', क्योंकि–'मैं वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ और इसलिए पुनर्जन्म तथा अवतारों में भी मेरा विश्वास है। मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूँ–उस रूप में, जो मेरी राय में सर्वथा वेदसम्मत रूप है, न कि उसके मौजूदा प्रचलित और भोंडे रूप में। मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गौ-रक्षा में विश्वास करता हूँ। मूर्ति पूजा में मुझे अविश्वास नहीं है',' (रजनीपाम दत्त- *भारत वर्तमान और भार्व*, अध्यायः भारतीय जनतंत्र की समस्याएं)।....गांधी जी का हिन्दुत्व बारे यह कथन हमने इस इरादे से नहीं दिया कि हम गांधी जी के हिन्दुत्व की तुलना आरएसएस और बीजेपी के हिन्दुत्व से कर रहे हैं। गांधी जी का

हिन्दुत्व उनकी अपनी व्यक्तिगत आस्था का मामला था न कि अन्यों पर जबरदस्ती थोपे जाने वाला हिन्दुत्व। हमारा मकसद सिर्फ यह है कि गांधी जी ने यहां हिन्दुत्व का निचोड़ पेश कर दिया है और अपने बारे में भी खुलेआम और डंके की चोट पर स्वीकार किया कि वे एक सनातनी हिन्दू है, गौ-रक्षा और उन तमाम हिन्दू ग्रंथों पर विश्वास करते है जो वर्ण एवं जाति व्यवस्था के रक्षक हैं। पर ऐसी स्थिति में भी सहज ही समझा जा सकता है कि वर्ण और जाति व्यवस्था से उत्पीड़ित डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसा कोई व्यक्ति कैसे गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार करके उनके साथ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में सक्रियता के साथ जुड़ सकता था। अम्बेडकर के मन में यह जो भय काम कर रहा था कि आजादी मिलने पर देश हिन्दू राष्ट्र बन जाएगा, निराधार नहीं था। फिर दोहरा दें कि ऊपर गांधी जी के हवाले से जो उद्धृत किया गया वही हिन्दुत्व का निचोड़ है। चाहे इसे हिन्दू धर्म का आधार कहो और चाहे हिन्दुत्व के आधार पर जीवन शैली का। हिन्दुत्व जीवन शैली निराधार नहीं हो सकती। और यदि गांधी जी का ऊपर उद्धृत किया गया उद्धरण ही हिन्दुत्व की जीवन शैली का आधार है तो फिर इस जीवन शैली को देश के मुसलमान और देश के दलित कैसे अपना सकते हैं? लेकिन आरएसएस और भाजपा आज भी अपनी पूरी ताकत से बोल रहे हैं कि 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है' और क्योंकि इन हिन्दुत्ववादियों का दावा है कि 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम ही हिन्दुत्व का आदर्श नायक है इसलिए उनका कहना है कि 'हिन्दुत्व ही रामत्व है' तथा 'रामत्व ही राष्ट्रीयत्व है'। इस आधार पर उनका कहना है कि हर किसी को अपने आप को राष्ट्रवादी सिद्ध करने के लिए 'राम' को अपने आदर्श नायक के रूप में स्वीकारना अनिवार्य है। क्या यह गैर-हिन्दुओं और दलितों के साथ जोर-जबरदस्ती नहीं है? क्या देश के दलित वर्ण-व्यवस्था के प्रतीक उस 'राम' को अपना आदर्श स्वीकार करें जिसने वर्णों के अधिकार और कर्तव्य की अवहेलना करने वाले शंबूक नामक शूद्र का सिर धड़ से अलग कर दिया था? कदापि नहीं।....और अब तो **हम देखते हैं कि कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राहुल गांधी मोदी जी के साथ हिन्दुत्व की प्रतिस्पर्धा में पीछे नहीं रहना चाहते हैं। वे भी मोदी जी की भांति अब मंदिरों में जाने लगे हैं, हाथ में पूजा की थाली लेकर और माथे पर चंदन, हल्दी, गेरू लगाकर हिन्दू भगवानों और देवी-देवताओं की आरती उतारते हैं और यहां तक कि अपने हिन्दू होने का प्रमाण देने के लिए अपने पहने हुए जनेऊ तक का भी प्रदर्शन करते हैं। लेकिन अभी वे देश को न तो हिन्दू राष्ट्र बनाने की बात करते हैं और न ही अपने हिन्दुत्व को अन्यों के ऊपर जबरदस्ती थोपे जाने का इरादा रखते हैं;** मोदी जी की भांति वे यह दावा भी नहीं करते कि प्राचीन हिन्दू ग्रंथों में प्लास्टिक सर्जरी, विमान और स्टैम सैल्स के प्रमाण मिलते हैं। **वे यह भी नहीं कहते कि भारत में यदि रहना है तो 'वंदे मातरम्' कहना होगा।** परंतु यह बात निश्चित है कि हिन्दुत्व की कोई भी वेराइटी क्यों न हो, हार्ड हो या सॉफ्ट वह वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था यानी सामाजिक असमानता की पक्षधर होती है और इसीलिए दलितों के हितों के विरुद्ध होती है।" (पेज 4-5/25)

सर्वप्रथम हम अपनी इस भूल पर खेद प्रकट करते हैं कि हमने हिन्दू धर्म के निचोड़ को हिन्दुत्व का निचोड़ लिख दिया। लेकिन हमारे पहले दस्तावेज़ से ऊपर दिए गए इस अंश से और खास कर जिन पंक्तियों पर अब हमने जोर दे दिया है पाठक भली भांति समझ सकते हैं कि हमन कांग्रेस और आरएसएस तथा बीजेपी के हिन्दुत्व में जो अंतर दिखाया है उसके महत्व को अभिनव सिन्हा गोल कर गए। आरएसएस और भाजपा का फासीवादी हिन्दुत्व, जो भारतीय राष्ट्र को 'हिन्दू राष्ट्र' बनाने की बात करता है; तथा नारा देता है

'भारत में यदि रहना है तो 'वंदे मातरम्' कहना होगा' तथा गांधी और कांग्रेस के हिन्दुत्व को कैसे हमने एक ही श्रेणी में रख दिया, जिसका कि अभिनव सिन्हा हमारे ऊपर आरोप मढ़ रहे हैं? जबकि हमने साफ लिखा है कि "**इन** हिन्दुत्ववादियों का दावा है कि 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम ही हिन्दुत्व का आदर्श नायक है इसलिए उनका कहना है कि 'हिन्दुत्व ही रामत्व है' तथा 'रामत्व ही राष्ट्रीयत्व है'।"

अभिनव सिन्हा सावरकर को हिन्दुत्ववादी विचारधारा के प्रमुख और आरंभिक निर्माता बताते हुए लिखते हैं:

"...हिन्दुत्व विचारधारा की शुरुआत 1910 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1920 के दशक में होती है। विनायक दामोदर सावरकर इस विचारधारा के प्रमुख आरंभिक निर्माता थे। **आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि सावरकर स्वयं 'मनुष्यों के वैयक्तिक ईश्वर' में यकीन नहीं करते थे,, तर्कवादी थे और कर्मकाण्डीय धर्म के धुर विरोधी थे और कई बार अपने आपको 'नास्तिक' भी कहते थे,** क्योंकि वह 'ब्रह्माण्ड के ईश्वर' की बात करते थे, जिसे वह तर्कणा से जोड़ते थे।.....**हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर के लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था। सावरकर ने लिखा था, 'एक हिन्दू का धर्म हिन्दुओं की भूमि से एक हो चुका है; यह भूमि उसके लिए पितृभूमि ही नहीं पुण्यभूमि भी है।'** सावरकर के लिए हिन्दुत्व का आधार था एक राष्ट्र, एक जाति (नस्ल के अर्थ में) और एक संस्कृति। जैन, बौद्ध आदि इसका अंग हैं, **मगर मुसलमान और ईसाई नहीं** क्योंकि वे मूलत: इस भूमि, नस्ल, संस्कृति और राष्ट्र के अंग नहीं हैं और अपनी पुण्यभूमि किसी और स्थान को मानते हैं। यह सारी सोच हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा की बुनियाद का निर्माण करती है, जिसे आगे गोलवलकर ने विकसित किया। **यह फासीवादी विचारधारा एक आधुनिक विचारधारा है और यह हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी हुई भावनाओं का इस्तेमाल करती है, जिसमें ब्राह्मणवादी व जातिवादी सोच भी शामिल है।** लेकिन हिन्दुत्व को हिन्दू धर्म का समानार्थी बनाना मूर्खतापूर्ण होगा और हिन्दुत्व की एक आधुनिक फासीवादी विचारधारा के रूप में पहचान करने में आपको अक्षम बनायेगा और नतीजतन उसके खिलाफ संघर्ष करने में भी अक्षम बनायेगा।" (7/65, जोर हमारा)

अभिनव सिन्हा की समझ को दखिए कि वे सावरकर द्वारा किए गए दिखावटी दावों के जाल में फंस कर रह गए और उनके बारे में बिल्कुल वैसा ही मूल्यांकन करते हैं जैसा कि सावरकर चाहते थे। अभिनव सिन्हा ने सावरकर को 'कर्मकांडीय धर्म का धुर विरोधी' और 'नास्तिक' तक करार दे दिया जिसका मायने होगा कि सावरकर का हिन्दुत्व धर्म से परे है और एक धर्मनिरपेक्ष नींव पर खड़ा है। अभिनव सिन्हा लिखते है कि **'हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर के लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था'।** सावरकर भी तो यही चाहते थे कि लोग उनके झांसे में आ जाएं तथा उनके खाने और दिखाने वाले दांतों के बीच फर्क न कर पायें। फासीवादी हिन्दुत्ववादियों का हमेशा ही यह कुप्रयास रहा है कि उनके फासीवादी हिन्दुत्व को हिन्दू धर्म से जोड़ कर और हिन्दू धर्म पर आधारित करके न देखा जाये। जबकि हिन्दू धर्म के बिना हिन्दुत्व खड़ा ही नहीं रह सकता। पहली बात तो यह कि सावरकर की पुण्य भूमि की अवधारणा हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति से सराबोर है और दूसरी बात यह कि उनकी यह अवधारणा उनकी अपनी मौलिक न होकर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द के हिन्दू पुनरुत्थानवादी साहित्य से ली हुई है, जिसकी चर्चा थोड़ा आगे चलकर की जाएगी।

जिस संस्कृति की वह बात करते हैं वह हिन्दू धर्म के अवतारों और हिन्दू तीज-त्योहारों का दूसरा नाम है, जिस हिन्दू जाति अथवा नस्ल की बात सावरकर करते हैं उस जाति के रक्त की पवित्रता उनके अनुसार बिना जाति प्रथा के संभव नहीं थी, और इस प्रकार सावरकर के हिन्दुत्व के लिए मनुस्मृति एक अनिवार्य और पवित्र ग्रंथ के तौर पर पूज्य है। सावरकर ने खुद उन 'अछूतों' की शुद्धि यानी उनके पुनः हिन्दूकरण के लिए गाजे-बाजे से धार्मिक अनुष्ठान किये। जिसका सीधा अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति के भीतर हिन्दुत्व की स्थापना करने के लिए उस व्यक्ति का हिन्दूकरण किया जाना अनिवार्य है। यानी धार्मिक पहलू से हिन्दू हुए बिना हिन्दुत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। आज भी संघ परिवार के लोग आदिवासियों का हिन्दूकरण का अभियान चलाते हैं और इनके द्वारा 'घर-वापसी' के किस्से रोज-रोज सुनने में आते हैं। जिसका मायने यही है कि बिना हिन्दू धर्म का इंजेक्शन लगाये किसी को हिन्दुत्व के खेमे में लाया जाना संभव नहीं है। यदि किसी में हिन्दू धर्म नहीं है तो उसमें हिन्दुत्व भी नहीं है। जिस प्रकार गति के बिना पदार्थ संभव नहीं उसी प्रकार हिन्दू धर्म के बिना हिन्दुत्व भी संभव नहीं। आज भी टी.वी. चैनल की बहसों में आरएसएस के प्रतिनिधियों का सारा जोर यही सिद्ध करने में लगा होता है कि हिन्दुत्व का हिन्दू धर्म से कोई लेना देना नहीं है। यानी हिन्दुत्व को ये लोग मात्र एक जीवन शैली कह कर पुकारते हैं जिसका कि हिन्दू धर्म से कोई लेना देना न हो, जो कि मात्र एक साजिश है।

अभी हाल ही में 17-18-19 सिंतबर को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में आरएसएस का एक तीन दिवसीय कार्यक्रम सम्पन्न हुआ जिसके बैनर पर लिखा था 'भविष्य का भारतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण', जिसमें आरएसएस के चीफ श्री मोहन भागवत अपने फासीवादी हिन्दुत्व के दिखावटी दांत दिखाने और उसे हिन्दू धर्म से बिल्कुल अलग सिद्ध करने की हदें पार कर गए। उन्होंने कहा हिन्दुत्व हिन्दूइज़्म नहीं है, उन्होंने गांधी जी के हवाले से कहा कि हिन्दुत्व सत्य का निरंतर अन्वेषण है; उन्होंने कहा कि हिन्दुत्व विविधताओं को स्वीकार करता है; हिन्दुत्व मुसलमानों का शत्रु अथवा विरोधी नहीं है और जिस दिन यह कहा जाएगा कि देश में मुसलमान नहीं चाहिएं तो हिन्दुत्व, हिन्दुत्व नहीं रहेगा; उन्हांने यहां तक कहा कि आरएसएस के दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर के 'बंच ऑफ थॉट्स' में दिये गए उनके विचार तत्कालीन परिस्थितियों में ही प्रासंगिक थे, वर्तमान में नहीं। मोहन भागवत ने यह भी कहा कि देश में शमशान और कब्रिस्तान की राजनीति बंद होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी राजनीति सिर्फ सत्ता प्राप्ति का साधन ही होती है। मोहन भागवत ने गत 18 अक्तूबर पर दशहरे के अवसर पर दिये गये अपने भाषण में तो यहां तक कह दिया कि आज से 550 वर्ष पूर्व हुए गरु नानक ने जिस प्रकार 'हिन्दुस्थान' की विशेषता बतायी थी जिसमें हिन्दू और मुसलमान मेलजोल से रहते थे वही हिन्दुत्व है, आदि आदि। तो क्या आरएसएस चीफ के इन खोखले फिकरों का यकीन कर लिया जाए और मान लिया जाए कि फासीवादी हिन्दुत्ववादियों के 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा हिन्दू धर्म पर आधारित नहीं है? संघ परिवार वाले कहते हैं कि बाबरी मस्जिद का ध्वस्तीकरण धर्म से जुड़ी घटना नहीं बल्कि हिन्दू सभ्यता और संस्कृति से जुड़ी घटना है और अयोध्या में उसकी जगह राम मंदिर के निर्माण 'आंदोलन' को भी सांप्रदायिक चश्में से नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि यह हिन्दुओं की अस्मिता का प्रश्न है, उनकी संस्कृति से जुड़ा प्रश्न है, आदि आदि। तो क्या संघ परिवार की इस प्रकार की दलीलों को स्वीकार कर लिया जाए? इस प्रकार क्या हिन्दुत्व संघ के हिन्दू राष्ट्र की धर्मनिरपेक्षता का जामा

नहीं बन गया है? क्या सावरकर का दो राष्ट्रों का सिद्धांत जिन्ना के दो राष्ट्रों के सिद्धांत की भांति धर्म पर आधारित नहीं है?

बेशक हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म समानार्थी नहीं हैं पर हिन्दुत्व की जड़ हिन्दू धर्म में ही है। बिना हिन्दू धर्म के किसी भी प्रकार के हिन्दुत्व, यानी सॉफ्ट या हार्ड, की कल्पना करना असंभव है। अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि, "हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर क लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था। सावरकर ने लिखा था, 'एक हिन्दू का धर्म हिन्दुओं की भूमि से एक हो चुका है; यह भूमि उसके लिए पितृभूमि ही नहीं **पुण्यभूमि** भी है।' " अभिनव सिन्हा अपने पूरे लेख में हिन्दुओं की पुण्यभूमि (जिस शब्द पर हमने जोर दिया है) की कोई व्याख्या नहीं करते। यदि वे यह पता लगाते कि सावरकर का उस भूमि से जो हिन्दुओं की 'पितृभूमि' ही नहीं 'पुण्यभूमि' भी है और जिस भूमि के साथ एक हिन्दू का धर्म एकाकार हो चुका है तो उन्हें पता चल जाता कि वह 'पुण्यभूमि' असल में वही भूमि है जिस भूमि ने हिन्दुओं के वेदों, उपनिषदों, रामायण और महाभारत आदि महाकाव्यों, भगवद्गीता, मनुस्मृति, पुराणों, हिन्दुओं के राम, कृष्ण आदि तमाम अवतारों को जन्म दिया। जब सावरकर संस्कृति और नस्ल की बात करते हैं तो उस संस्कृति और नस्ल का आधार भी यही 'पुण्यभूमि' है जिस पर हिन्दू संस्कृति और हिन्दू नस्ल आधारित है। सावरकर की राष्ट्र की अवधारणा हिन्दुत्व पर आधारित है पर उनका हिन्दुत्व हिन्दू धर्म पर आधारित है। क्योंकि मुसलमानों और ईसाईयों की पुण्यभूमि हिन्दू धर्म वालों की पुण्यभूमि नहीं है इसीलिए न तो उनमें हिन्दुत्व निवास कर सकता है और न ही वे हिन्दू राष्ट्र के घटक हो सकते है। अभिनव सिन्हा जो लिखते हैं कि 'यह फासीवादी विचारधारा एक आधुनिक विचारधारा है और यह हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी हुई भावनाओं का इस्तेमाल करती है, जिसमें ब्राह्मणवादी व जातिवादी सोच भी शामिल है।' लेकिन यह एक अधूरी बात है क्योंकि यह फासीवादी विचारधारा हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी भावनाओं का इस्तेमाल ही नहीं करती बल्कि 'पुण्यभूमि' के नाम से पूरी तरह हिन्दू धर्म पर आधारित है। क्योंकि जब हम सिर्फ यूं कहते हैं कि यह फासीवादी विचारधारा हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी भावनाओं का इस्तेमाल करती है तो इसका अर्थ यह होता है कि इस फासीवादी विचारधारा का आधारस्तंभ हिन्दू धर्म न होकर कुछ और है। असल में यह विचारधारा हिन्दू राज कायम करने के लिए हिन्दू धर्म पर आधारित विचारधारा है। अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि "सावरकर के लिए हिन्दुत्व का आधार था एक राष्ट्र, एक जाति (नस्ल के अर्थ में) और एक संस्कृति।" पर वे यह समझने में असमर्थ रहे कि इन सब का आधारस्तंभ वह 'पुण्यभूमि' है जिसके बिना ये ठहर ही नहीं सकते। सावरकर जिस 'पुण्यभूमि' और संस्कृति की बात करते हैं वे हिन्दू धर्म पर आधारित हुए बिना ठहर ही नहीं सकती। अभिनव सिन्हा ने हमें एक 'आश्चर्य' में डालने वाला तथ्य बताया कि सावरकर कई बार अपने आपको 'नास्तिक' भी कहते थे और धार्मिक कर्मकांडों के धुर विरोधी थे पर इससे भी ज्यादा आश्चर्य पैदा करने वाली बात तो यह है कि एक 'नास्तिक' ने अपनी फासीवादी हिन्दुत्ववादी विचारधारा का आधार 'पुण्यभूमि' को क्यों बनाया? एक नास्तिक के लिए 'पुण्यभूमि' का क्या अर्थ हो सकता है! अभिनव सिन्हा आगे लिखते हैं:

"पत्रकारिता की भाषा में कांग्रेस द्वारा समय-समय पर हिन्दुओं के तुष्टिकरण के लिए हिन्दू कार्ड खेलने को 'साफ्ट हिन्दुत्व' या 'साफ्ट केसरिया' कह दिया जाता है, लेकिन एक समाज वैज्ञानिक की दृष्टि से

भाजपा और कांग्रेस में गुणात्मक अन्तर है और कांग्रेस कोई हिन्दुत्ववादी पार्टी नहीं है। अगर हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा को मानने वाली फासीवादी पार्टी भाजपा और सेण्टर-राइट बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस के बीच अन्तर नहीं किया जाता तो फासीवाद का प्रतिरोध करने के लिए किसी विशिष्ट रणनीति की आवश्यकता नहीं है। यह कहना कि भाजपा व कांग्रेस में बस यह फर्क कि भाजपा हिन्दुत्व को थोपती है, कांग्रेस नहीं थोपती, अद्‌भुत और उपहासास्पद नासमझी का उदाहरण है और गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में तब्दील कर देना है।" (पेज 7/65)

पहली बात तो यह कि हमने भाजपा और कांग्रेस के हिन्दुत्व में सिर्फ इतना ही अन्तर नहीं किया कि 'भाजपा हिन्दुत्व को थोपती है, कांग्रेस नहीं थोपती'। हमने इनके बीच अन्तर के बारे में दो बातें और भी कही हैं। एक तो यह कि कांग्रेस भारत को एक 'हिन्दू राष्ट्र' बनाने की बात नहीं कहती और दूसरी यह कि कांग्रेस यह नहीं कहती कि भारत में यदि रहना है तो 'वंदे मातरम' कहना होगा। अगली बात यह कि कांग्रेस हिन्दुओं क तुष्टीकरण के लिए जब हिन्दू कार्ड खेलती है और पत्रकारिता की भाषा में उसे 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' कहा जाता है तो कांग्रेस द्वारा हिन्दुओं के इस तुष्टीकरण के लिए यानी राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु हिन्दू धर्म और हिन्दू प्रतीकों को इस्तेमाल करने अथवा हिन्दू कार्ड खेलने को समाज शास्त्र की भाषा में 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' नहीं तो क्या कहा जाएगा? कांग्रेस और भाजपा के बीच हिन्दुत्व को लेकर जो मुख्य अन्तर है वह है 'हिन्दू राष्ट्र' के निर्माण का। इसके अलावा यदि कांग्रेस अपने दलीय राजनीतिक स्वार्थ में हिन्दुओं के तुष्टीकरण का खेल खेलती है और हिन्दू पत्ते चलती है तो यह 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' के अलावा और कुछ नहीं है। जब कांग्रेस के प्रवक्ता यह कहें कि ब्राह्मण डीएनए कांग्रेस के खून में है तो यह 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' नहीं तो क्या है? और अब तो कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राहुल गांधी ने अपने चुनाव क्षेत्र अमेठी में हिन्दू केसरिया ध्वज़ भी फहरा दिया है, मंच पर शिवलिंग का जलाभिषेक भी किया है तथा पार्टी ने यह निर्णय भी लिया है कि पार्टी की रैलियों में 'बम भोले बम बम' का उद्‌घोष भी होगा। और उसके बाद अब कांग्रेस ने मध्य प्रदेश का चुनाव जीतने के लिए 'राम वन गमन पथ यात्रा' का शंख बजाया है और संघ परिवार के 'जय श्रीराम' का मुकाबला 'जय सियाराम' से करने जा रही है और सबरीमाला मंदिर में महिलाओं के प्रवेश के विरोध में अब तो कांग्रेस भी बीजेपी के साथ मैदान में उतर आई है। इन सब के बावजूद भी अभिनव सिन्हा कहते हैं कि कांग्रेस की विचारधारा को 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' भी न कहा जाए।

हिन्दूराष्ट्रवादी-फासीवादी विचारधारा के प्रणेता और आरंभिक निर्माता सावरकर नहीं, हिन्दू पुनरुत्थानवादी सन्यासी थे

अभिनव सिन्हा की यह समझ गलत है कि हिन्दुत्ववादी फासीवादी विचारधारा की शुरुआत विनायक दामोदर सावरकर से हुई और वे ही इस विचारधारा के प्रमुख आरंभिक निर्माता थे। असल में विचारधारा के धरातल पर हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना और सपने को स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ही प्रस्तुत कर चुके थे, जिसके आधार पर ही सावरकर ने आग कदम बढ़ाया। आइए इस संदर्भ में दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द के लेखों और भाषणों से कुछ चुनिंदा उद्धरणों पर विचार करें। आर्य नस्ल की पितृभूमि की सीमाओं को दर्शाते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं:

"उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र। तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश है उन सबको आर्य्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्य्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्य्यावर्त्त कहाया है।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम् सम्मुल्लास)

आर्य राष्ट्र से पृथक देशों को म्लेच्छ देशों की संज्ञा देते हुए और उनकी भौगोलिक स्थितियों बारे स्वामी दयानंद लिखते हैं:

"जो आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्यु देश और म्लेच्छ देश कहाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्य्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में रहने वालों का नाम दस्यु और म्लेच्छ तथा असुर है।"(वही, अष्टम् सम्मुल्लास)

अतीत में आर्यों के सार्वभौम चक्रवर्त्ती राज्य होने की बात कहते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं:

"सृष्टि से लेके पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्त्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे ....। जब रघुगण राजा थे तब रावण भी यहां के आधीन था जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था। स्वायंभव राजा से लेकर पांडव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्त्ती राज्य रहा।..." (वही, एकादश सम्मुल्लास)

आर्य राष्ट्र पर विदेशियों के प्रभुत्व पर अपनी वेदना प्रकट करते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं:

"ब्रह्मा का पुत्र विराट, विराट का मनु, मनु के मरीच्यादि दश इनके स्वायंभवादी सात राजा और उनके संतान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्य्यावर्त्त के प्रथम राजा हुये जिन्होंने यह आर्य्यावर्त्त बसाया है। अब अभाग्योदय से और आर्य्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्य्यावर्त्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दु:ख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" (वही, अष्टम् सम्मुल्लास)

मुसलमानों के प्रति स्वामी दयानन्द की क्या दृष्टि और क्या भावना थी उसे नीचे दिए गए तीन उद्धरणों से भली भांति समझा जा सकता है:

(क) "...जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविंदसिन्हजी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया।" (वही, एकादश सम्मुल्लास)

(ख) "जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूरा कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना। (वही, दशम् सम्मुल्लास)

महर्षि दयानन्द जी के सम्पूर्ण जीवन चरित्र 'श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश' के लेखक 'स्वर्गीय श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज' ने मुसलमानों के साथ खान-पान बारे स्वामी दयानन्द के रूख बारे निम्न प्रकार से लिखा:

(ग) "एक दिन स्वामी जी ने स्वास्थ्य-रक्षा पर एक उपयुक्त भाषण दिया। उसकी समाप्ति पर एक पारसी सेठ ने उनसे कहा कि जब आप यह कहते हैं कि मनुष्यमात्र एक-से हैं तो हमारे साथ मिलकर आप खाना क्यों नहीं खाते? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मुसलमानादि जातियों के साथ आप लोग खान-पान का व्यवहार करते हैं, नहीं तो दूसरी रुकावट नहीं है। यदि आप आर्य लोगों से अधिक मेलजोल करने लग जायें तो कालान्तर में यह रुकावट हटाई जा सकती है।" (दशम् संस्करण 1973, पृष्ठ 287-288)

अब स्वामी विवेकानन्द जी के कुछ उद्धरणों पर विचार करें, वे लिखते हैं:

"...जब मुसलमान पहले-पहल यहां आये, तो कहा जाता है...कि हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम लोग बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है, **उससे हमारा एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।**" ('प्रबुद्ध भारत', अप्रैल 1899, चतुर्थ खंड, पृष्ठ 270, जोर हमारा)

प्रश्न है कि यदि कोई हिन्दू अपनी सामाजिक प्रताड़ना से मुक्ति का भाव लेकर मुस्लिम धर्म को अपना लेता है तो स्वामी विवेकानंद उस व्यक्ति को अपने शत्रु की संज्ञा क्यों देते है? यह क्या है? हिन्दुइज़्म अथवा हिन्दुत्व?

और देखें, स्वामी विवेकानन्द हिन्दुओं को संबोधित करते हुए क्या लिखते हैं:

"...मेरी बात पर ध्यान दो, केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होंगे, जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जायेगी। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू कहला सकोगे, जब तुम किसी भी प्रांत के, कोई भी भाषा बोलने वाले प्रत्येक हिन्दू-संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा और स्नेही समझने लगोगे। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू माने जाओगे, जब किसी भी हिन्दू कहलाने वाल का दुख तुम्हारे हृदय में तीर की तरह आकर चुभेगा, मानों तुम्हारा अपना लड़का ही विपत्ति में पड़ गया हो! केवल तभी तुम यथार्थत: 'हिन्दू' नाम के योग्य होंगे, जब तुम उनके लिए समस्त अत्याचार और उत्पीड़न सहने के लिए तैयार रहोगे। इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं–तुम्हारे ही गुरु गोबिंद सिंह, जिनकी चर्चा मैं आरंभ में ही कर चुका हूं। **इस महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया,** हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपने हृदय का रक्त बहाया, अपने पुत्रों को अपनी आंखों के सामने मौत के घाट उतरते देखा–" (हिन्दू धर्म के सामान्य आधार, पंचम खंड, पृष्ठ 270-271, जोर हमारा)

देश के मुसलमानों को देश का शत्रु घोषित कर दिए जाने को क्या हिन्दुइज़्म कहा जाएगा अथवा हिन्दुत्व? और क्या यह हिन्दुत्व हिन्दू धर्म और हिन्दुइज़्म से अविभाज्य है?

और देखें, कि स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म को राष्ट्र की एकता और संगठन की पहली शर्त और उसके आधार के रूप में किस भांति अनिवार्य बना रहे हैं, वे लिखते हैं :

"हमारे पास एकमात्र सम्मिलन भूमि है, हमारी पवित्र परंपरा, हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है, और उसी पर हमें संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है। किन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है, अतः भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उसी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा।" (भारत का भविष्य, पंचम खंड, पृष्ठ 180)

भारतीयों के लिए धार्मिक आदर्श को सबसे बड़ा आदर्श बताते हुए और हिन्दू नस्ल के एक खून होने की बात करते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं:

"...हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिए **धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं** है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मंत्र है, और हम केवल सबसे कम बाधावाले मार्ग का अनुसरण करके ही कार्य में अग्रसर हो सकते हैं।...और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें। सचमुच ये झगड़े बिल्कुल वाहियात हैं, हमारे शास्त्र इनकी निंदा करते हैं, हमारे पूर्व पुरुषों ने इनके बहिष्कार का उपदेश दिया है, और वे महापुरुष गण जिनके वंशज हम अपने को बताते हैं और **जिनका खून हमारी नसों में** बह रहा है, अपनी संतानों को छोटे-छोटे भेदों के लिए झगड़ते हुए देखकर उनको घोर घृणा की दृष्टि से देखते हैं।" (वही, पृष्ठ 181, जोर हमारा)

सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र के आधार के लिए जिस पुण्य भूमि की बात की है उस पुण्य भूमि की अवधारणा को सावरकर ने स्वामी विवेकानन्द से ही ग्रहण किया है। पाठक साथी स्वामी विवेकानंद के निम्न उद्धरण पर गौर करें:

"आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्म भूमि भारतमाता ही मानों आराध्य देवी बन जाए। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ है, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं उसकी पूजा ही न करें?" (वही, पष्ठ 193)

क्या यहां स्वामी विवेकानंद हिन्दुओं के धर्म को, उनके देवी-देवताओं को, उनके ईश्वर को उनकी भूमि से एकाकार नहीं कर रहे है? क्या सावरकर द्वारा हिन्दू तथा हिन्दू राष्ट्र के आधार के लिए दी गयी पुण्य भूमि की अवधारणा स्वामी विवेकानन्द द्वारा दी गयी अवधारणा से भिन्न है? और जिस भूमि से एक हिन्दू का धर्म ही एकाकार हो गया हो तो क्या वह भूमि हिन्दू धर्म से पृथक की जा सकती है? हिन्दू धर्म पर आधारित यह पुण्य भूमि ही सावरकर के हिन्दुत्व का आधारस्तंभ है और इस पुण्य भूमि के आधार पर ही तो

स्वामी विवेकानंद ने भी ता हिन्दू राष्ट्र का सपना देखा था। स्वामी विवेकानंद ने अपने एक पत्र में हिन्दू धर्म पर आधारित 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा को स्पष्ट रूप में जाहिर किया था। उन्होंने लिखा:

"मैं धर्म-महासभा में बोला था...मैं डींग नहीं हांकना चाहता, परंतु आपके प्रेम के कारण, आप में विश्वास करके मैं यह अवश्य कहूंगा कि किसी हिन्दू ने अमेरिका को ऐसा प्रभावित नहीं किया, और मेरे आने से यदि कुछ भी न हुआ, तो इतना अवश्य हुआ कि अमेरिकनों को यह मालूम हो गया कि भारत में आज भी ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके चरणों में सभ्य से सभ्य राष्ट्र भी नीति और धर्म का पाठ पढ़ सकते हैं। क्या आप नहीं समझते कि **हिन्दू राष्ट्र** को अपने सन्यासी भेजने के लिए यह पर्याप्त कारण है? " (श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को शिकागो से पत्र, 15 नवंबर 1894, तृतीय खंड, पृष्ठ 326, जोर हमारा)

अत: ऊपर की गई चर्चा स पूरी तरह साफ है कि हिन्दू धर्म, पितृ भूमि और पुण्य भूमि के आधार पर हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा के जनक स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द हैं। स्वामी दयानंद और उनके आर्यसमाजी शिष्यों ने शुद्धि आंदोलन चलाए और हिन्दू राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने के लिए हिन्दू सभाओं का भी गठन किया। हिन्दू सभाओं की राजनीति हिन्दुओं के राज्य के लिए राजनीति थी। भगतसिंह ने लाला लाजपतराय के नाम खुले खत में उनके खिलाफ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तनाव बढ़ाने का सीधा आरोप लगाया था। असल में स्वामी दयानंद सरस्वती ने जिस स्वराज की बात की थी वह हिन्दू अथवा आर्यों के राज्य की बात थी, उनकी राष्ट्रीयता की अवधारणा साझी राष्ट्रीयता की न होकर आर्य राष्ट्र की अवधारणा थी। सन् 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने जिस आर्य समाज की स्थापना की थी वह विशुद्ध रूप से एक हिन्दू अथवा आर्य संगठन था जिसमें किसी मुसलमान अथवा ईसाई के प्रवेश की कोई संभावना नहीं थी क्योंकि यह आर्यों का ही संगठन था और वेदों का पढ़ना-पढ़ाना व सुनना-सुनाना स्वामी दयानंद जी ने आर्य समाज के तीसरे नियम के रूप में आर्यों के लिए उनका परम धर्म घोषित कर दिया था। स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानन्द की हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा को ही विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दुत्व के नाम से प्रस्तुत किया जिसके आधार पर सन् 1925 में हिन्दुत्ववादी फासिस्ट संगठन आरएसएस का गठन हुआ।

राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में आने से पहले बाल गंगाधर तिलक ने भी राष्ट्रीय जागरण के लिए हिन्दू धर्म के प्रतीकों और त्योहारों का इस्तेमाल किया और गांधी जी ने भी खुद को सनातनी हिन्दू घोषित किया और राष्ट्रीय राजनीति को धर्म पर आधारित करने का रास्ता चुना। पर गांधी जी धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों के सिद्धांत के विरुद्ध थे, हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते थे और मुसलमानों को देश के शत्रु के रूप में तो कतई नहीं देखते थे। लेकिन इसके बावजूद भी गांधी जी धर्म के आधार पर देश के बंटवारे को रोक नहीं पाए क्योंकि वे खुद को इस स्तर तक ऊंचा नहीं उठा सके कि देश की आम मुस्लिम जनता का भी वे भरोसा जीत पाते और उन्हें लगता कि गांधी जी उनके भी नेता हैं। गांधी जी की मुख्य कमजोरी हिन्दू धर्म के प्रति उन द्वारा की गई अपनी आस्थाओं की सार्वजनिक घोषणा और राजनीति में हिन्दू धर्म का प्रवेश कराना था। कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व गांधी जी द्वारा अपनी राजनीति में हिन्दू धर्म के इस प्रकार के प्रदर्शन से आम मुस्लिम जनता के दिलों में शंकाए पैदा होना स्वाभाविक था। और इस प्रकार की शंकाओं का कारण गांधी जी की हिन्दू धर्म के प्रति मात्र निजी आस्थाएं न होकर उनके द्वारा राजनीति में हिन्दू धर्म का इस्तेमाल था। गांधी जी द्वारा अपने हिन्दू धर्म को राजनीति से दूर रखने की बात तो दूर उलटा

उसे अपनी राजनीति में प्रवेश करा रहे थे जो कि उनका धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के बिल्कुल ही उलट आचरण था और इस प्रकार के आचरण को ही फासोवादी हिन्दुत्व की तुलना में सॉफ्ट हिन्दुत्व कहा जाता है। बीजेपी जब 'श्रीराम' को अपनी राजनीति का औजार बनाती है तो इसे हम फासीवादी हिन्दुत्व कहते हैं पर जब कांग्रेस पार्टी सन् 1987 के इलाहाबाद संसदीय उपचुनाव में धनुर्धारी राम के वेश में टी.वी. अभिनेता अरुण गोविल को अपने चुनाव अभियान में उतार देती है और सन् 1989 के संसदीय आम चुनाव में राजीव गांधी 'रामराज्य' की स्थापना की प्रतिज्ञा लेते हुए अपने चुनाव-प्रचार अभियान का आंरभ अयोध्या से करते हैं तो फिर इसे सॉफ्ट हिन्दुत्व न कहें तो क्या कहें?

'श्रीराम' को सावरकर ने हिन्दू संस्कृति, हिन्दू नस्ल और हिन्दुओं की पुण्य भूमि के प्रतीक के रूप में मान्यता दी और 'राम' के सिंहासन पर आरूढ़ होने वाले दिवस को ही हिन्दू जाति का जन्म-दिवस और राष्ट्र-दिवस घोषित कर दिया और आज हम जो 'रामत्व ही राष्ट्रीयत्व है' का शोर सुनते हैं यह उसी की उपज है। गांधी जी ने भी 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम को अपना आदर्श बनाया तथा 'रामराज्य' की अवधारणा को एक आदर्श समाज व्यवस्था और राज्य के रूप में संकल्पित किया। 'राम' गांधी जी के आदर्श थे और 'रामराज्य' जैसी समाज व्यवस्था उनकी राजनीति का लक्ष्य थी, उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि 'रामत्व ही राष्ट्रीयत्व है'। लेकिन उनके द्वारा हिन्दू-प्रतीक 'राम' को अपनी राजनीति का आदर्श बनाना सॉफ्ट हिन्दुत्व की श्रेणी में तो आएगा ही।

अभिनव सिन्हा कहते हैं कि 'गांधी हिन्दू पुनरुत्थानवादी थे', लेकिन वे राजनीतिज्ञ भी तो थे और राज्य प्राप्ति के लिए लड़ भी रहे थे। जब हिन्दू पुनरुत्थानवादी सोच और इरादा राजनीतिक संघर्ष के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया जाए तो उसे क्या कहेंगें और इसके परिणाम क्या होंगे? रजनी पाम दत्त लिखते हैं:

"...इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस का कायक्रम हालांकि असांप्रदायिक था और बहुत से प्रमुख देशभक्त मुसलमान उसमें शरीक थे, फिर भी उसके बहुत से प्रचार में और खास तौर पर दक्षिण-पंथी नेताओं तथा गांधी जी के प्रचार में हिन्दू धर्म की गहरी पुट मिली रहती थी, जो मुसलमान जनता को कांग्रेस की ओर नहीं खिंचती थी।" (भारत: वर्तमान और भावी, पृष्ठ 253)

रजनी पाम दत्त आगे लिखते हैं, "इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेताओं पर है। हम यह देख चुके हैं कि पहले महायुद्ध के पूर्व भारत में राष्ट्रीय जागरण की जो पहली बड़ी लहर आयी थी, उसके नेता तिलक, अरविंद घोष, आदि ने हिन्दू धर्म को अपने प्रचार का आधार बनाया था और राष्ट्रीय नव-जागरण को हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान से मिला देने का प्रयत्न किया था। इसका नतीजा यह हुआ कि मुस्लिम जनता राष्ट्रीय आंदोलन से कट कर अलग हो गयी और सरकार के लिए यह रास्ता खुल गया कि वह 1906 में मुस्लिम लीग को जन्म देकर एक नया मुहरा खड़ा कर ले।"

वे फिर आगे लिखते हैं, "और यह भयानक भूल पुराने जमाने के राष्ट्रवादियों या तथाकथित 'उग्रपंथियों' तक ही सीमित नहीं रही। आधुनिक काल में भी इस भूल का सिलसिला जारी रहा। गांधी जी के पूरे प्रचार और आंदोलन पर उसकी गहरी छाप थी। गांधी जी के सारे प्रचार में उनकी धार्मिक धारणाएं तथा हिन्दू धर्म का और राजनीतिक उद्देश्यों का प्रचार बुरी तरह उलझा हुआ था। 1920-22 में जब असहयोग

आन्दोलन अपने चरम शिखर पर था और गांधी जी संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता थे, और जब उन पर यह जिम्मेदारी आती थी कि वह जो कहें, वह एक संयुक्त आन्दोलन के नेता के योग्य हो, उस समय उन्होंने ऐलान किया था कि, 'मैं सनातनी हिन्दू हूँ', क्योंकि–1) 'मैं वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ और इसलिए पुनर्जन्म तथा अवतारों में भी मेरा विश्वास है। 2) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूँ–उस रूप में, जो मेरी राय में सर्वथा वेदसम्मत रूप है, न कि उसके मौजूदा प्रचलित और भोंडे रूप में। 3) मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गौ-रक्षा में विश्वास करता हूँ। 4) मूर्ति पूजा में मुझे अविश्वास नहीं है'।" (वही)

रजनी पाम दत्त, गांधी जी के बारे में इसी सिलसिले में थोड़ा और आगे लिखते हैं: "हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपील करते हुए भी, गांधी जी एक ऐसे राष्ट्रीय नेता के रूप में नहीं बोलते थे जो दोनों संप्रदायों में एक होने की भावना पैदा करता हो। वह एक हिन्दू नेता के रूप में बोलते थे, जो हिन्दुओं को 'हम लोग' कहता था, और मुसलमानों को 'वे लोग' कहता था।" (वही, पेज 254)

वे फिर आगे लिखते हैं: "इस प्रकार, जो कांग्रेस का माना हुआ नेता था और जिसे जनता कांग्रेस का मुख्य प्रतिनिधि समझती थी, वह सदा हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-पुनरुत्थान के एक सक्रिय नेता के रूप में आता रहता था। तब क्या आश्चर्य है यदि ऐसी परिस्थिति में और कांग्रेस के ऐसे नेताओं तथा ऐसे प्रचार के होते हुए केवल शत्रु-आलोचक ही नहीं, बल्कि साधारण जनमत का भी एक बड़ा भाग कांग्रेस को 'हिन्दू आंदोलन' समझता था? और जहां यह बात सही है कि इस मामले में मुख्य दोष गांधी जी का था, वहां यह बात भी सच है कि कांग्रेस के बहुत से छोटे नेता, खासकर गांधीवाद से प्रेरणा लेने वाले नेता, इन्हीं तरीकों का प्रयोग करते थे। यदि इस सब के बाद भी कुछ चुने हुए मुस्लिम नेता सदा कांग्रेस के साथ बने रहे, तो इसका श्रेय उनकी राष्ट्रवादिता को है।" (वही, पृष्ठ 254)

गांधी जी चाहते थे कि राजनीति धर्मनिरपेक्ष न होकर धर्म सापेक्ष हो और जब वे राजनीति को धर्म सापेक्ष बनाने की अपनी चेष्टा को सार्वजनिक रूप से जाहिर करने लगें तो फिर देश के मुस्लिम समुदाय पर इसका असर बिना पड़े कैसे रह सकता था। गांधी जी सांप्रदायिक नहीं थे और सांप्रदायिक तनाव के वे खिलाफ थे पर वे धर्मनिरपेक्ष भी नहीं थे। वे खुद अपने को सनातनी हिन्दू घोषित करते थे। संक्षेप में, राष्ट्रीय आंदोलन में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष तथा बाद में गांधी जी के हिन्दू पुनरुत्थानवादी रूझान के नतीजे बहुत बुर निकले। कांग्रेस नेतृत्व गांधी जी के इस हिन्दू पुनरुत्थानवादी रूझान ने ही राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीति के साथ घुल-मिलकर 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' को जन्म दिया था और आज कांग्रेस नेतृत्व अपने राजनीतिक नारों के तौर पर 'बम बम भोले' और 'जय सिया राम' तक पहुंच गया है। यह सही है कि हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म एक नहीं है, पर हिन्दू नेताओं द्वारा हिन्दू धर्म और उसके प्रतीकों का अपनी राजनीति को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग अवश्य ही हिन्दुत्व है। चाहे वह सॉफ्ट हो, चाहे फासीवादी हो। 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' को सावरकर और गोलवलकर के फासीवादी हिन्दुत्व की तुलना में ही यह संज्ञा हासिल हुई है। अत: हम पुन: स्पष्ट करते हैं कि गांधी जी और कांग्रेस का हिन्दुत्व सावरकर और गोलवलकर के फासीवादी हिन्दुत्व की तुलना में 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' है लेकिन हार्ड और सॉफ्ट दोनों ही प्रकार के हिन्दुत्व की जड़ें हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवादी विचारधारा में मौजूद हैं।

14.

दलितों के अपने जनसंगठनों बारे

हमने वर्तमान हालातों को दर्शाते हुए अपने मूल व पहले पर्चे में दलित मुक्ति संघर्ष के लिए संक्षेप में जो कार्यक्रम दिया था वह निम्न प्रकार से था:

"हम समझते हैं कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का संघर्ष चलाएं; हिन्दुत्ववादी शक्तियों के हमलों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई लड़ें और इस लड़ाई में अन्य जातियों के तमाम समानता के पक्षधर मजदूरों-मेहनतकशों को, मजदूर यूनियनों को अपने साथ जोड़ें तथा गैर-दलितों के अन्य भरोसेलायक संगठनों के साथ मोर्चा कायम करें ताकि जाति उन्मूलन, सामाजिक अत्याचार और साथ ही साथ आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई को व्यापक रूप दिया जा सके। बाबा साहब ने भी कहा था कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है।"

अभिनव सिन्हा का कहना है कि दलितों के अपने जनसंगठन 'युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर' बन ही नहीं सकते क्योंकि ऐसे जनसंगठन केवल साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर ही बन सकते हैं। उनका कहना है कि "यदि ये संगठन वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर बनेंगें तो वे कम्युनिस्ट पार्टी या कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन होंगें क्योंकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही वैज्ञानिक विचारधारा है; बशर्ते कि श्यामसुन्दर मार्क्सवाद के अतिरिक्त भी किसी विचारधारा को वैज्ञानिक न मानते हों; जिसका अर्थ होगा दो विचारधाराओं को वैज्ञानिक मानना, या दो विज्ञानों, या दो सही विश्व दृष्टिकोणों की बात करना। जैसा कि हम जानते हैं कि ऐसा द्वैतवाद आपको मूर्खतापूर्ण नतीजों पर ले जाएगा; यह मार्क्स, एंगेल्स, प्लेखानोव, लेनिन और माओ ने स्पष्ट तौर पर दिखलाया है जब आपको मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों के बारे में न पता हो, तो आप ऐसी ही गलतियां करते हैं। श्यामसुन्दर को यह पता होना चाहिए कि जन संगठन साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर बनते हैं, विचारधारा पर नहीं। यदि वे दलितों के जनसंगठन की बात कर रहे हैं, तो वे साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर बनेंगे और साझा न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर ही बनने चाहिए; यदि ऐसा नहीं होता तो वे कम्युनिस्ट पार्टी के पार्टी संगठन या किसी अन्य राजनीतिक पार्टी की बात कर रहे हैं, जिस सूरत में वे राजनीतिक वर्ग संगठन होंगें, न कि जाति-आधारित संगठन। यदि वे किसी अन्य वर्ग के राजनीतिक संगठन हैं, तो वे 'युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित' नहीं होंगें!"(61/65)।

हमने युक्तितर्क पर आधारित जिस वैज्ञानिक विचारधारा की बात की है निश्चित ही हम यहां मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बात नहीं कर रहे हैं और न ही हम यह कह रहे हैं कि दलित समुदाय संघर्ष के लिए अपने संगठनों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर बनाएं। न ही हम अपने कथन में वैज्ञानिक विचारधारा के संदर्भ में किसी प्रकार के द्वैतवाद के शिकार हैं। भारत में आज भी लोगों का एक बड़ा हिस्सा यानी दलित समुदाय सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के खिलाफ

स्वंतत्रता, समानता और बंधुत्व की स्थितियों को हासिल करने के लिए अपनी लड़ाई लड़ रहा है। हम जानते हैं कि भारत में ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा हजारों वर्षों तक जात-पांत को व्यवस्था पर आधारित एशियाई उत्पादन प्रणाली की अधिरचना के रूप में काम करती रही है और इस विचारधारा के प्रबल अवशेष आज भी वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की अधिरचना में बने हुए हैं, जिसका कारण भारत में पूंजीवादी जनवादी क्रांति का क्रांतिकारी ढंग से सम्पन्न न होना और उसका अंजाम तक न पहुंचना है। ब्राह्मणवादी विचारधारा के ये प्रबल अवशेष प्रतिक्रियावादी शासक पूंजीपति वर्ग के वर्ग स्वार्थ में बनाए रखे गए हैं, जिनकी वजह से देश का दलित समुदाय सामाजिक प्रताड़ना, अवमानना और अपमान का शिकार है। अतः दलित समुदाय द्वारा अपने जिस पकार के संगठनों के बनाये जाने की हम बात करते हैं वे संगठन अवश्य ही साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर आधारित होंगे पर यह साझा न्यूनतम कार्यक्रम क्या होगा? क्या इस साझा न्यूनतम कार्यक्रम का पहला मुद्दा ही दलितों के लिए सामाजिक समानता और भाईचारा नहीं होगा? और यदि सामाजिक समानता और भाईचारे के लिए संघर्ष के मुद्दे को दलित अपने एजेंडें की सूची में प्रथम स्थान देते हैं तो फिर क्या उनके इन संगठनों के साझा न्यूनतम कार्यक्रम का हिस्सा ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के खिलाफ लड़ना नहीं होगा? और फिर क्या ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के ख़िलाफ अपनी लड़ाई को दलित-संगठन बिना किसी विचारधारा के आगे बढ़ा सकते हैं? इसीलिए हमने यह कहा कि दलित 'युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें'। सामाजिक क्षेत्र में समानता और भाईचारे के लिए दलितों का संघर्ष ही जनवाद के लिए संघर्ष होगा। और इस संघर्ष को लड़ने के लिए विचारधारात्मक हथियार की लाज़िमी तौर पर जरूरत होगी। सामाजिक असमानता की पोषक ब्राह्मणवादी धाार्मिक विचारधारा के खिलाफ ही हम दलितों को अपनी जनवादी लड़ाई लड़ने के लिए युक्ति तर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा की बात कर रहे हैं। क्या मार्क्सवाद-लेनिनवाद, माओ-त्से-तुङ विचारधारा और ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के बीच अन्य किसी प्रकार की कोई वैज्ञानिक विचार पद्धति की बात हो ही नहीं सकती? निश्चित रूप से ऐसा सोचना अधिभूतवाद होगा, द्वन्द्ववाद नहीं। अभिनव सिन्हा खुद सावरकर के बारे में लिखते हैं कि: "आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि सावरकर स्वयं 'मनुष्यों के वैयक्तिक ईश्वर' में यकीन नहीं करते थे, तर्कवादी थे और कर्मकाण्डीय धर्म के धुर विरोधी थे और कई बार अपने आप को 'नास्तिक' भी कहते थे, क्योंकि वह 'ब्रह्माण्ड के ईश्वर' की बात करते थे, जिसे वह तर्कणा से जोड़ते थे" (6/65)। यानी अभिनव सिन्हा खुद स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवादी वज्ञानिक विचारधारा से अलग भी कोई चिंतन प्रणाली ऐसी हो सकती है जो युक्ति तर्क पर आधारित हो और हर चीज़ को तर्कणा से जोड़ती हो। जब हम दलितों के संगठनों के निर्माण के संदर्भ में युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा की बात करते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय महज़ युक्तितर्क अथवा तर्कणा पर आधारित चिंतन प्रणाली से ही है, जिसके आधार पर ब्राह्मणवादी-जातिवादी विचारधारा, सामाजिक असमानता, रूढ़िवाद और परंपरावाद के विरोध की बात ही निहित है। जात-पांत को कायम रखने के पक्ष में आज इस प्रकार की दलीलें भी दी जाती ह कि हर जाति का अपना-अपना खून एक विशिष्ट खून होता है। जाट-खून, राजपूत-खून, ब्राह्मण-खून आदि आदि वाहियात बातें की जाती हैं जिन्हें मैडिकल साईंस पूरी तरह से नकारती है। युक्ति-तर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा से हमारा यही तात्पर्य है कि रूढिवादी, परंपरावादो और जातिवादी विचारों का विरोध विज्ञान के निरीक्षित-परीक्षित सत्यों द्वारा किया जाए। और जब हम यह कहते हैं कि दलित अपने संगठन

बनाकर जनवाद के लिए लड़ें तो इससे हमारा यही तात्पर्य है कि दलित दलितवाद की दलदल से बाहर निकलें तथा अपनी लड़ाई को अन्य शोषितों-पोड़ितों के साथ मिलकर व्यापक बनाएं। हमने अपने पहले पर्चे में दलित समुदाय को किन-किन प्रमुख मुद्दों को अपने संघर्ष के कार्यक्रम में शामिल करना चाहिए तथा किस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए संक्षिप्त रूप में लिखा था एवं डॉ. भीमराव अम्बेडकर का यह कथन भी लिखा कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। बाबा साहब के इस कथन का हवाला दिये जाने का हमारा मकसद उनके अनुयायियों को मात्र यह बताना था कि उन्हें अपने संघर्ष का निशाना किस पर साधना है। हमने अपने पर्चे में पूरी तरह स्पष्ट किया है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर के संघर्ष की दिशा क्रांतिकारी दिशा नहीं थी और वे मात्र एक समाज सुधारक के स्तर तक सीमित रहे। बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के संघर्ष के चरित्र बारे हमने अपने पहले 25-पृष्ठीय पच में साफ-साफ लिखा था कि "बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष आवेदन-निवेदन करने वाला रास्ता चुना जिसे हम सुधारवादी रास्ता कहते हैं और भगतसिंह ने दूसरी क्रांतिकारी राह का आह्वान किया था...यहां तक कि तेलंगाना किसान विद्रोह को दबा दिये जाने की निर्णायक चोट भी उसी सत्ता और सरकार ने की जिसके कि बाबा साहब खुद भी एक हिस्सा थे।" लेकिन इसके बावजूद भी अभिनव सिन्हा ने हम पर यह आरोप लगाया कि "श्यामसुन्दर कह रहे हैं कि जन संघर्ष मंच हरियाणा अम्बेडकर के उपरोक्त कथन पर पहले से ही अमल करता आ रहा है।"(62/65) अभिनव सिन्हा द्वारा हमारे द्वारा जो कुछ कहा गया उसकी इस प्रकार की व्याख्या बिल्कुल ग़लत है। हमने अपने पर्चे में यह कहीं नहीं लिखा और न ही ऐसी अभिव्यक्ति है कि जन संघर्ष मंच हरियाणा डॉ. अम्बेडकर के इस कथन कि 'दलितों के दो शत्रु है: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद' को अपने संघर्ष की दिशा मानकर पहले से ही अमल करता आ रहा है। जहां हमने यह लिखा है कि "जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है" तो इसका संबंध डॉ. भीमराव अम्बेडकर के उक्त कथन से पहले बताये जा चुके सामाजिक अत्याचारों तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई का व्यापक मोर्चा बनाते हुए संघर्ष से है। लेकिन दलित समुदाय की जानकारी के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा कही गयी उन महत्वपूर्ण बातों एवं कथनों को हम अवश्य ही उद्धृत करना जरूरी समझते हैं जिनको मूर्त रूप देने के लिए वैज्ञानिक समाजवाद की दिशा अख्तियार करना अनिवार्य है, जिसकी कि बाबा साहब अपनी पूरी ताकत के साथ ख़िलाफत करते रहे। उदाहरण के रूप में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 9 सिंतबर 1943 को अपने एक भाषण में कहा:

"पूंजीवादी संसदीय प्रजातंत्र व्यवस्था में दो बातें अवश्य होती हैं। जो काम करते हैं उन्हें गरीबी में रहना पड़ता है और जो काम नहीं करते उनके पास अकूत पूंजी जमा हो जाती है। एक तरफ राजनीतिक समता और दूसरी तरफ आर्थिक विषमताएं। जब तक मजदूरों को मकान, कपड़ा, सहारा, निरोग जीवन नहीं मिलते, विशेष रूप में जब तक वह सम्मान के साथ अपनी गर्दन ऊंची कर निर्भय हो जीवन यापन नहीं कर सकता तब तक स्वाधीनता कोई मायने नहीं रखती। हर मजदूर को सुरक्षा और राष्ट्रीय सम्पत्ति में सहभागी होने का आश्वासन मिलना आवश्यक है।"

पूंजीवादी प्रजातंत्र बारे डॉ. भीमराव का एक और उद्धरण देखें। 22 सिंतबर, 1944 को एक भाषण में उन्होंने कहा:

"...प्रजातंत्र के शासन की बागडोर यदि पूंजीपतियों के हाथों में जाती है तो फिर अन्य प्रजाजनों को गुलामी में ही जीना और मरना होगा।"

हमारा सुविचारित मत है कि बेशक डॉ. भीमराव अम्बेडकर मार्क्सवाद के रास्ते को पूर्णत: नकारते थे लेकिन जात-पांत विहीन तथा आर्थिक तौर पर भी एक समतामूलक समाज की स्थापना की तीव्र इच्छा उनके हृदय में सतत् बनी रही। इसलिए हम समझते हैं कि ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध उनके जितने भी कथन हैं, आम दलित समुदाय के सामने रखे जाएं। बाबा साहब के भाषणों से ऊपर दो उद्धरण हमने इसलिए चुने कि दलित समुदाय अपने लम्बे तजुर्बे के बाद यह समझ ले कि वर्तमान पूंजीवादी जनतंत्र न तो उन्हें गरीबी से निकाल सकता है और न ही उन्हें बराबरी दे सकता है। हमारे द्वारा डॉ. भीमराव के कथनों के उल्लेख करने का अभिनव सिन्हा द्वारा यह अर्थ निकाला जाना कि हम बाबा साहब के कथनों का अनुसरण करते हुए संघर्ष का रास्ता अपना रहे हैं एकदम गलत है। इस प्रकार के कथनों का महज़ इतना ही मतलब होता है कि आम शोषित-पीड़ित जनता के मन मस्तिष्क पर यदि किसी व्यक्ति का यह प्रभाव है कि वह निस्वार्थ भाव से उनकी लड़ाई का रहनुमा है, तो ऐसे समाज सुधारक/महापुरुष के चुनिंदा कथनों से यदि शोषित-पीड़ित, दलित जनता को उनकी जिंदगी की असलियत बारे कोई बात समझाने में मदद मिलती है तो हम समझते हैं कि ऐसे कथनों का प्रयोग किया जाना उचित है। क्या ज्योतिराव फुले, पेरियार आर डॉ. भीमराव अम्बेडकर को देश का दलित समुदाय अपनी मुक्ति का रहनुमा नहीं मानता है? क्योंकि इनकी विचारधारा और इनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं था तो क्या इसी आधार पर हम इन्होंने जो कुछ लिखा और कहा उस सब को एकदम खारिज़ कर देंगे? क्या हम इनक हर कथन को गलत सिद्ध करने के रास्ते ही देश के दलित समुदाय को समाजवादी क्रांति का हिस्सा बना सकेंगे? क्या डॉ. भीमराव अम्बेडकर का कोई भी कथन दलितों के लिए स्वीकार्य नहीं होना चाहिए? डॉ. भीमराव अम्बेडकर के खिलाफ इस प्रकार के अभियान को हम गलत मानते हैं।

रही बात दलित मुक्ति संघर्ष के लिए हमारे अपने कार्यक्रम की तो हमने ऊपर स्पष्ट कहा है कि "जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है" और यह लड़ाई है सभी जातियों के मेहनतकशों-मजदूरों का एक्का कायम करते हुए उस एक्के को वर्ग-संघर्ष में रूपांतरित करने और मजदूर वर्ग की सत्ता स्थापित करने की लड़ाई। अभिनव सिन्हा ने हमारे द्वारा उद्धृत किए गए अम्बेडकर के इस संदेश को भी आलोचना का विषय बनाया कि अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को दलितों के दो शत्रुओं के रूप में नहीं बल्कि श्रमिक वर्ग के दो शत्रु बताया था। और साथ में लिखा कि दलितों का जिक्र तो आई.एल.पी. के कार्यक्रम में चंदेक बार ही हुआ था। यानी खुद ही स्वीकार भी कर लिया कि यह संदेश दलितों के लिए भी था बेशक उनके श्रमिक होने के नाते ही, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष की तो सभी श्रमिकों की जरूरत थी और है लेकिन डॉ. भीमराव अम्बेडकर के लक्ष्य में दलितों के लिए यह प्रमुख मुद्दा था। हमारा अभिनव सिन्हा से प्रश्न है कि क्या डॉ. भीमराव अम्बेडकर का श्रमिकों के प्रति जिनमें दलित भी शरीक हैं यह संदेश कि श्रमिकां के दो शत्रु हैं: ब्राह्ममणवाद और पूंजीवाद, सकारात्मक है या नकारात्मक? उनका यह संदेश श्रमिकों और दलितों में ले जाने लायक है अथवा नहीं? क्योंकि बाबा साहब मार्क्सवाद विरोधी थे और उनकी पूंजीवाद की अवधारणा राजकीय पूंजीवाद तक ही

सीमित थी तो क्या महज़ इसी वजह से पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद दो शत्रुओं वाला श्रमिकों और दलितों के प्रति उनका संदेश कोई मूल्य नहीं रखता?

हमारा यह सुविचारित मत है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर के दिल में जात-पांत पर आधारित घोर सामाजिक असमानता के विरुद्ध आग जल रही थी और वे अपनी पूरी निष्ठा और शक्ति से इस सामाजिक असमानता को मिटा देना चाहते थे। लेकिन मार्क्सवादी दर्शन से विमुख रहने के कारण वे इस सामाजिक असमानता को मिटा देने का क्रांतिकारी रास्ता अख्तियार न कर सके। इसी कारण से उन्हें अपने जीवन संघर्ष में कथनी और करनी के विरोध स भी गुजरना पड़ा लेकिन उनके जीवन में इस प्रकार का विरोध किसी पाखंड और स्वार्थ की उपज नहीं था। यही वजह है कि आज भी देश का दलित समुदाय उन्हें अपना महान सुपूत, नायक और रहनुमा मानता है। इसलिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर के लेखन में जहां कहीं भी इस प्रकार के अंश हैं जो दलित समुदाय को आज समाजवादी क्रांति की दिशा में बढ़ने के लिए मददगार हो सकते हैं उन अंशों को हमें अवश्य ही दलित समुदाय के कार्यकर्त्ताओं के विचार हेतु प्रस्तुत करते रहना चाहिए।

अब हम संक्षेप में जाति-उन्मूलन संबंधी 'बिगुल' वालों के कार्यक्रम की चचा करना चाहेंगे। अरविंद मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम लिखती है:

"हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो गलत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताकत हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएं करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएं निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अंतरजातीय विवाह (intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, जनवरी 2014, पृष्ठ 97)

जहां तक कि जाति उन्मूलन के लिए दिए गए इस कार्यक्रम की बात है जन संघर्ष मंच हरियाणा इन्हें व्यावहारिक तौर पर अपनी क्षमता के अनुसार अपनी स्थापना के आरंभ से ही करता आ रहा है। पर हम जो बात यहां उठाना चाहते हैं वह यह कि 'बिगुल' वाले अपने इस उक्त कार्यक्रम में अन्तरजातीय विवाह (intercaste marriages) आयोजित करने की बात करते हैं लेकिन डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा जाति-उन्मूलन के लिए अन्तरजातीय विवाहों के सुझाये गए समाधान की आलोचना इस हद तक जाकर कर रहे हैं कि दलित सवहाराओं के प्रेम को ही पाशविक प्रेम करार दे देते हैं। देखें! पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' तथा 'मजदूर बिगुल' अखबार के संपादक सुखविन्दर क्या लिखते हैं:

"आज के संदर्भ में बात करें तो 'जाति उन्मूलन' के लिए अम्बेडकर ने जो अंतरजातीय विवाहों का रास्ता सुझाया था, यह जाति व्यवस्था पर चोट करने के लिए काफ़ी हद तक कारगर हो सकता है। लेकिन यह हिन्दू धर्म में किसी यूटोपियाई सुधारों के जरिये संभव नहीं होगा (जैसा कि अम्बेडकर कहते हैं)। अरेंज्ड अन्तरजातीय विवाह नहीं हो सकते। सिर्फ़ अन्तरजातीय प्रेम विवाह ही संभव हैं। प्रेम करने के लिए समय, शिक्षा तथा संस्कृति की ज़रूरत होती है। लेकिन आज भी दलितों की लगभग 90 फ़ीसदी आबादी उज़रती गुलाम है, जिसके पास प्रेम करने के लिए न तो समय है, न शिक्षा और न ही संस्कृति। संस्कृतिविहीन प्रेम

कभी भी मानवीय प्रेम नहीं हो सकता, यह सिर्फ़ पाशविक प्रेम ही हो सकता है। दलितों के बीच शिक्षा तथा संस्कृति के प्रसार के लिए ज़रूरी है कि उनकी आर्थिक दशा में सुधार किया जाए और इसलिए मौजूदा पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को बदलना होगा।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, पृष्ठ 169)

तो फिर प्रश्न यह है कि यदि अरेंज्ड मैरिज़ के जरिए अन्तरजातीय विवाह संभव नहीं और न ही प्रेम-विवाह के जरिए क्योंकि 'मजदूर बिगुल' के संपादक सुखविन्दर के अनुसार यदि दलित सर्वहारा का प्रेम मानवीय प्रेम न होकर मात्र पाशविक प्रेम ही हो सकता है, तो फिर 'बिगुल' वाले अन्तरजातीय विवाहों का आयोजन कैसे करेंगें? 'मजदूर बिगुल' संपादक सुखविन्दर एक पूरी श्रृंखला बना देते हैं कि संस्कृतिविहीन प्रेम कभी भी मानवीय प्रेम नहीं हो सकता, यह सिर्फ़ पाशविक प्रेम ही हो सकता है; दलितों के बीच संस्कृति तथा शिक्षा के प्रसार के लिए जरूरी है कि उनकी आर्थिक दशा में सुधार किया जाए; और आर्थिक दशा में सुधार के लिए जरूरी है कि पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को बदला जाए। यानी 90 प्रतिशत दलित आबादी का प्रेम, मानवीय प्रेम मात्र समाजवादी क्रांति के बाद ही शुरु हो पाएगा!

'दलितों की बहू-बेटियों' वाक्यांश के प्रयोग पर अभिनव सिन्हा की आपत्ति

प्रसंगवश, अभिनव सिन्हा द्वारा की गयी हमारी एक और आलोचना की यहां चर्चा वाजिब होगी और वह यह कि हमारे द्वारा हमारे पहले पर्चे में 'दलित बहू-बेटियों' वाक्यांश का प्रयोग किया गया था। हमने दलित बहू-बेटियों पर बढ़ते यौन हमलों पर चिंता जताई थी। अभिनव सिन्हा ने हमारे द्वारा प्रयुक्त 'दलित बहू-बेटियों' के वाक्यांश को भी अपने निशाने पर लिया है। वह लिखते हैं:

"ऐसी शब्दावली श्यामसुन्दर जैसे वामपंथियों की स्त्रियों के विषय में समझदारी को भी दिखलाता है, जो कि स्त्रियों की पहचान को ही किसी की बहू या बेटी या मां होने तक सीमित कर देती है और उसे एक स्वतंत्र पहचान से वंचित कर देती है; एसयूसीआई के 'सेण्टिमेण्टल', 'मॉरेलिस्ट' और 'एथिकलिस्ट' वामपंथी भी अक्सर ऐसी शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं।" (पेज 58/65)

श्यामसुन्दर और एसयूसीआई पर अभिनव सिन्हा द्वारा 'सेण्टिमेण्टल' आदि होने का इल्ज़ाम लगाया जा सकता है पर शायद द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के संस्थापकों मार्क्स और एंगेल्स के खिलाफ इस प्रकार का इल्ज़ाम लगाने की अभिनव सिन्हा धृष्टता नहीं करेंगे। मार्क्स और एंगेल्स अपनी संयुक्त रचना *कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र* में लिखते हैं:

"हमारे पूंजीपतियों को **मज़दूरों की बहू-बेटियों** को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक इस्तेमाल करने से संतोष नहीं होता..." (अध्याय-2, पृष्ठ 59, जोर हमारा)

क्या अभिनव सिन्हा जवाब देंगे कि 'मज़दूरों की बहू-बेटियों' और 'दलितों को बहू-बेटियों', इन दो वाक्याशों में पहला क्यों सही है और दूसरा क्यों आपत्तिजनक है?

15.

कलायत बहस के मुद्दे पर

अभिनव सिन्हा अपने 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ में लिखते हैं: "...श्यामसुन्दर ने आरोप लगाया है कि हमारा मानना है कि भूमि प्रश्न हल न होने पर जनवादी क्रांति पूर्ण नहीं होती और पहले जनवादी क्रांति के प्रश्न को हल करना पड़ता है, तभी समाजवादी क्रांति की मंजिल आती है, भले ही राज्यसत्ता पर पूंजीपति वर्ग काबिज़ हो गया हो। यह एक पुराने झूठ को दुहराना है। **हम स्पष्ट तौर पर मानते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता हस्तांतरण के साथ ही तत्काल समाजवादी क्रांति की मंजिल नहीं आ गयी, लेकिन इसका कारण यह नहीं कि हम 'जनवादी क्रांति को पूर्ण करने की जिद' थामे बैठे हैं।...**" (पेज 20/65, जोर हमारा)

यही तो कलायत बहस का मूल प्रश्न है कि एक तरफ तो अभिनव सिन्हा कहते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटिश साम्राज्यवादी वर्ग के हाथों से भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो गया और दूसरी तरफ कहते हैं कि सत्ता का हस्तांतरण पूंजीपति वर्ग के हाथों में आने के बावजूद भी यानी देश में पूंजीपति वर्ग की राज्यसत्ता कायम होने के बाद भी क्रांति का चरण पुराना ही रह गया। अभिनव सिन्हा का कहना है कि राजनीतिक तौर पर अगस्त 1947 में भारत स्वतंत्र हो गया लेकिन क्रांति का चरण गुलामी के दौर वाला ही रह गया। हम सब यह जानते हैं कि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का चरित्र और चरण पूंजीवादी जनवादी क्रांति का चरण होता है, इसका अर्थ यह होता है कि जब राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का अंत हो जाता है तो इसके साथ ही क्रांति के भी पूंजीवादी जनवादी चरण का अंत हो जाता है और द्वन्द्ववाद हमें सिखाता है कि जहां एक प्रक्रिया का अंत होता है वहीं दूसरी प्रक्रिया का आरंभ भी होता है। बिना आरंभ के कोई अंत नहीं हो सकता और बिना किसी अंत के कोई आरंभ भी नहीं हो सकता। अभिनव सिन्हा जब यह कहते हैं कि अगस्त 1947 में भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी तो इसका मायने इसके अलावा और कुछ नहीं कि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का अंत हो गया और इसके साथ ही क्रांति की पूंजीवादी जनवादी मंजिल का भी अंत हो गया। अब अभिनव सिन्हा से बार-बार हमारा प्रश्न यही रहा है कि यदि अगस्त 1947 में बुर्जुआ जनवादी क्रांति की मंजिल का अंत हो गया तो फिर आरंभ क्रांति की कौन-सी मंजिल का हुआ? जो वामपंथी संगठन यह अवस्थिति अपनाते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता हस्तांतरण के जरिए देश को राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल नहीं हुई और उनके अनुसार देश फिर भी अर्द्ध-औपनिवेशिक, अर्द्ध-सामंती सत्ता के तहत बना रहा तो उनकी बात तो समझ में आती है कि क्रांति का चरण पूंजीवादी जनवादी यानी नवजनवादी क्रांति का बना रहा। लेकिन अभिनव सिन्हा के इस बेहूदे अन्तरविरोध को कैसे समझा जाये कि एक तरफ तो वह कहते हैं कि सत्ता हस्तांतरण के बाद सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में आयी, यानी सत्ता का चरित्र अर्द्ध-औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-सामंती नहीं रह गया था, लेकिन क्रांति के चरण के बारे में वह भी यही कहते हैं कि क्रांति का चरण पूंजीवादी जनवादी क्रांति का यानी नव-जनवादी क्रांति का चरण बना रहा। क्या यह हास्यास्पद नहीं है कि सत्ता का चरित्र पूंजीवादी हो और उस पूंजीवादी सत्ता के विरुद्ध क्रांति का रणनीतिक नारा नवजनवादी क्रांति का हो! अभिनव सिन्हा के अनुसार नवजनवादी क्रांति का रणनीतिक नारा दोनों ही स्थितियों में हो सकता है, चाहे सत्ता अर्द्ध-औपनिवेशिक, अर्द्ध-सामंती हो और चाहे पूंजीवादी हो! सत्ता हस्तांतरण के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का मूल्यांकन था कि देश में सत्ता का चरित्र

अर्द्ध-औपनिवेशिक, अर्द्ध-सामंती हो गया था और तब अपने इसी मूल्यांकन के आधार पर सीपीआई नेतृत्व ने नव-जनवादी क्रांति का चरण तय किया था। अब अभिनव सिन्हा कहते हैं कि असल में सत्ता हस्तांतरण के बाद देश की सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में आ गयी थी और उसका चरित्र अर्द्ध-औपनिवेशिक, अर्द्ध-सामंती नहीं था लेकिन इसके बावजूद अभिनव सिन्हा के अनुसार क्रांति का चरण वही सही था जिसे सीपीआई बता रही थी। अभिनव सिन्हा ने ऊपर लिखा है कि:

" हम स्पष्ट तौर पर मानते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता हस्तांतरण के साथ ही तत्काल समाजवादी क्रांति की मंजिल नहीं आ गयी, लेकिन इसका कारण यह नहीं कि हम 'जनवादी क्रांति को पूर्ण करने की जिद' थामें बैठे हैं।... "

तो फिर यदि 'जनवादी क्रांति को पूर्ण करने की जिद', अभिनव सिन्हा और उनके दल की नहीं है तो फिर वे स्पष्ट तौर पर क्यों नहीं बताते कि पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता आने के बाद भी नव-जनवादी क्रांति का रणनीतिक नारा क्यों और किस वजह से जारी रहेगा? दूसरे शब्दों में यदि 'जनवादी क्रांति को पूर्ण करने की जिद' भी न हो और सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो तो फिर नवजनवादी क्रांति के इनके रणनोतिक नारे का आधार क्या रह जाता है? दरअसल अभिनव सिन्हा और इनका पूरा नेतृत्व क्रांति की मंजिल का सत्तारूढ़ वर्ग के साथ कोई संबंध नहीं मानते। सवाल है कि क्या ऐसा हो सकता है कि सत्ता पर आरूढ़ निर्णायक तौर पर पूंजीपति वर्ग हो और उसके विरुद्ध क्रांति का रणनीतिक नारा नवजनवादी क्रांति का हो? नहीं! ऐसा नहीं हो सकता। इस संबंध में मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट और एक सार्वभौमिक सत्य के तौर पर कहा था कि:

" प्रत्येक क्रांतिकारी संघर्ष उस वर्ग के विरुद्ध लक्षित होता है, जो उस समय तक सत्तारूढ़ होता है।" (फायरबाख़। भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध, संकलित रचनाएं, खण्ड 1, भाग 1)

इसी सीख को कि क्रांतिकारी संघर्ष यानी क्रांति सत्तारूढ़ वर्ग के खिलाफ लक्षित होती है, एंगेल्स ने और भी कई जगह दोहराया है। मार्क्स-एंगेल्स द्वारा दी गई इस सीख का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्रांति का बुनियादी प्रश्न यह है कि सत्तारूढ़ वर्ग कौन है और कौन वर्ग उस सत्तारूढ़ वर्ग को सत्ता से हटायेंगे और कौन उसमें मदद करेंगें। मार्क्स-एंगेल्स की इसी बुनियादी सीख के आधार पर लेनिन ने अनेक जगह लिखा है कि:

''राज्यसत्ता का प्रश्न निसन्दिग्ध रूप से प्रत्येक क्रांति का बुनियादी प्रश्न होता है। सत्ता किस वर्ग के अधिकार में है?--यही बात सब कुछ निर्णय कर देती है।...सत्ता के प्रश्न से न तो बचा जा सकता है और न उसे स्थगित किया जा सकता है, क्योंकि वह एक बुनियादी प्रश्न है जो क्रांति के विकास में तथा उसकी गृह-नीति और वैदेशिक नीति मं हर बात का निर्णायक होता है।...'' (क्रांति का एक बुनियादी प्रश्न से, 14(27)सिंतबर 1917)

यानी क्रांति का चरण अथवा मंजिल सत्तारूढ़ वर्ग के चरित्र से तय होती है। उदाहरण के तौर पर यदि सत्ता पर आरूढ पूंजीपति वर्ग है तो उसके विरुद्ध क्रांति का रणनीतिक नारा समाजवादी क्रांति का नारा होगा, नवजनवादी क्रांति का नहीं। क्रांति की मंजिल का अर्थ भी अभिनव सिन्हा नहीं समझते। क्रांति की मंजिल महज इस बात से निर्धारित होती है कि अब जब भी क्रांति होगी तो सत्ता किस वर्ग की उखाड़ी जाएगी?

और यदि सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में है तो क्रांति जब भी होगी सत्ता पूंजीपति वर्ग की ही उखाड़ी जाएगी। अभिनव सिन्हा जब यह स्वीकारते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता का हस्तांतरण पूंजीपति वर्ग को हुआ तो क्या उनके लिए यह समझना बहुत कठिन है कि क्रांति चाहे 1950 में हो, चाहे 1960 में हो, चाहे 1980 में हो चाहे भविष्य में कभी भी हो तो सत्ता पूंजीपति वर्ग की ही उखाड़ी जाएगी और पूंजीपति वर्ग की सत्ता को पलट देने का नाम ही समाजवादी क्रांति है और पूंजीवादी सत्ता का स्थान सर्वहारा अधिनायकत्व ही ले सकता है। इसीलिए अगस्त 1947 में पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण के साथ ही क्रांतिकारी संघर्ष की बुर्जुआ जनवादी मंजिल का अंत हो गया था और समाजवादी क्रांति की मंजिल का आरंभ हो गया था। द्वन्द्ववाद के अनुसार जहां एक प्रक्रिया का अंत है वहीं दूसरी प्रक्रिया का आरम्भ है; सर्वहारा के संघर्ष की एक मंजिल का जहां अंत है उसके संघर्ष की अगली मंजिल का वहीं से आरम्भ है। लेकिन अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद में कोरे हैं और इन मामूली-मामूली बातों को भी समझने में उन्हें कठिनाई है। दूसरी बात यह कि अभिनव सिन्हा सत्ता हस्तांतरण के बारे में शुद्ध मनोगतवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, वस्तुवादी नहीं। उनका कहना है कि ब्रिटिश शासकों की चाह मात्र से ही भारत के पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरित हुई है, न कि ऐसा होना अवश्यम्भावी था। कलायत बहस के अपने प्रथम दस्तावेज़ में वह लिखते हैं

"भारत में 1947 में पूँजीपति वर्ग के हाथ में राज्यसत्ता किसी नैसर्गिक राजनीतिक प्रक्रिया के जरिये नहीं आयी। 1947 में द्वितीय विश्व युद्ध से कमज़ोर पड़े और भारत में बढ़ते किसान और मज़दूर संघर्षों से घबराये अंग्रेज़ देश छोड़कर भागने को मजबूर हो गये। जाते समय उन्होंने **सत्ता देश के सामन्त वर्ग को सौंपने की बजाय देश के पूँजीपति वर्ग को सौंपी**। इसका कारण यह था कि वे जानते थे कि अगर आज़ादी के बाद भी वे भारत में अपना साम्राज्यवादी शोषण जारी रखना चाहते हैं, तो बुर्जुआ वर्ग से नियम-शर्तों पर बातचीत ज़्यादा आसानी से हो सकती ह। दूसरी बात, बुर्जुआ वर्ग उभरता हुआ वर्ग था और उपनिवेशवाद के दौरान जो औद्योगिक विकास हुआ था, उसने इस बुर्जुआ वर्ग को विचारणीय आर्थिक और राजनीतिक शक्ति दी थी। राजे-रजवाड़ों से बातचीत (नेगोसियेशन) को बजाय, बिड़ला-टाटा के प्रतिनिधियों से बातचीत ज़्यादा सहज और सरल थी। इसलिए अंग्रेजों ने जाते हुए सत्ता कांग्रेस के हाथों सौंपी। यह कोई नैसर्गिक राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रिया नहीं थी।" (पृष्ठ 5, कलायत बहस-1)

अत: उनका कहना है कि भारत में पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण किन्ही आर्थिक अवस्थाओं की वस्तुगत उपज न होकर ब्रिटिश शासकों की अपनी जरूरतों और अपनी इच्छाओं का परिणाम था यानी अभिनव सिन्हा के अनुसार ब्रिटिश शासक वर्ग किन्हीं भौतिक परिस्थितियों के कारण मजबूर और बाध्य नहीं था कि वह सत्ता पूंजीपति वर्ग को ही हस्तांतरित करे। अभिनव सिन्हा के अनुसार ब्रिटिश शासक यदि चाहते तो सामंती वर्ग को भी सत्ता हस्तांतरण कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा किया नहीं। इस प्रकार की बचकानी समझ के बावजूद भी वह दावा करते हैं कि उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण है! अभिनव सिन्हा का यह कहना बिल्कुल गलत है कि 'भारत में 1947 में पूँजीपति वर्ग के हाथ में राज्यसत्ता किसी नैसर्गिक राजनीतिक प्रक्रिया के जरिये नहीं आयी'। सवाल है कि यह 'नैसर्गिक राजनीतिक प्रक्रिया' क्या होती है? क्या सत्ता हस्तांतरण से पहले देश में ब्रिटिश शासकों के ख़िलाफ स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए कोई राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्ष नहीं था? क्या असंख्य मजदूर-किसानों, छात्रों-नौजवानों ने अपने प्राणों की आहूतियां देकर ब्रिटिश

शासकों के दिलों में भय पैदा नहीं कर दिया था? क्या राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की शक्ति ने अंग्रेज शासकों को देश छोड़कर जान को मजबूर नहीं कर दिया था? और क्या इस राष्ट्रीय आंदोलन की ताकत का नेतृत्व देश के उसी पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं था जो ब्रिटिश शासकों से समझौतावादी नीति अपनाकर चल रहा था? और ऐसे में द्वितीय महायुद्ध के बाद बने हालातों में क्या भयभीत ब्रिटिश शासकों के लिए यह नैसर्गिक नहीं था कि वह राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व के हाथों में ही सत्ता सौंपकर ही देश छोड़कर भागता? क्या यह कहना बचकानापन नहीं है कि ब्रिटिश शासकों के पास सामंती वर्ग को भी सत्ता हस्तांतरित कर देने का विकल्प था, जैसा कि अभिनव सिन्हा का कहना है? ऐसा तो तब ही संभव हो सकता था जब देश का सामंती वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन का नेता होता। लेकिन अभिनव सिन्हा अगस्त 1947 में पूंजीपति वर्ग को हुए सत्ता के हस्तांतरण का कारण ब्रिटिश शासकों के दिमाग में और उनकी निजी चाह में खोजते हैं। वह यह नहीं कहते कि तत्कालीन आर्थिक स्थितियों में ब्रिटिश शासक, पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण करने के लिए बाध्य थे। अतः यह कहना कि ब्रिटिश शासक की अपनी इच्छा और चाह से पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण हुआ और यदि वे चाहते तो सामंती वर्ग को भी हो सकता था, कोरा भाववाद नहीं तो और क्या है? ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए एंगेल्स लिखते हैं:

"...इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रांतियों के अंतिम कारण मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं, शाश्वत सत्य तथा न्याय के विषय में उनकी गहनतर अंतर्दृष्टि में नहीं, बल्कि उत्पादन तथा विनिमय-प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों में निहित है। उनका पता प्रत्येक युग के **दर्शन** में नहीं, बल्कि **अर्थव्यवस्था** में लगाया जाना चाहिए।" (समाजवादः काल्पनिक तथा वैज्ञानिक, संकलित रचनाएं, खंड-3, भाग-1, पृष्ठ 166)

बेशक भारत में बुर्जुआ वर्ग द्वारा कोई क्रांति नहीं की गयी और उसे सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटिश शासकों के साथ समझौते के जरिए ही हुआ लेकिन सत्ता हस्तांतरण का अंतिम कारण भी शासकों के मस्तिष्क में नहीं खोजा जाना चाहिए।

तीसरी बात यह कि राज्यसत्ता हमेशा ही सबसे ताकतवर और आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ग की राज्यसत्ता होती है। और औपनिवेशिक काल में भारत का बुर्जुआ वर्ग ही आर्थिक रूप से सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग बन चुका था। एंगेल्स को उद्धृत करते हुए लेनिन लिखते हैं:

"...चूंकि राज्यसत्ता का जन्म वर्ग-विरोधों की रोकथाम करने की जरूरत से हुआ था, परंतु साथ ही साथ चूंकि उसका जन्म इन वर्गों के संघर्षों के बीच हुआ था इसलिए **वह हमेशा ही**, सबसे ताकतवर, आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ग की राज्यसत्ता होती है, जो राज्यसत्ता के जरिए राजनीतिक रूप से भी प्रभुत्वशाली वग बन जाता है और इस भांति वह पीड़ित वर्ग के दमन और शोषण के लिए नये साधन पा जाता है...।" (राज्यसत्ता और क्रांति, अध्याय-1, अनुभाग 3, जोर हमारा)

भारत के पूंजीपति वर्ग की ताकत को दर्शाते हुए लेनिन 1923 में लिखते हैं:

''...पिछले साम्राज्यवादी युद्ध के कारण ही कई देश-पूरब, भारत, चीन आदि-अपनी लीक से बिल्कुल हट गए हैं। **उनका विकास निश्चित रूप से आम यूरोपीय पूंजीवादी विकास के मार्ग पर आ गया है।** आम यूरोपीय हलचल का प्रभाव उन पर पड़ने लगा है। और यह बात अब सारी दुनिया के सामने स्पष्ट हो गयी है कि वे अब विकास के ऐसे क्रम में फंस गए हैं, जिसका परिणाम पूरे विश्व के पूंजीवाद के संकट में फंस जाने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।'' (चाहे कम हो पर बेहतर हो, 2 मार्च 1923, जोर हमारा)

चौथी बात यह कि यदि सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ में आ जाए और वह वर्ग एक संविधान सभा द्वारा अपने वर्गीय शासन के लिए एक शुद्ध पूंजीवादी संविधान का निर्माण कर ले तो क्या फिर भी इस बात में कोई शंका बाकी रह जाती है कि पूंजीपति वर्ग ने अपनी विजय को निर्णायक तौर पर पक्का नहीं कर लिया है? और जब पूंजीपति वर्ग निर्णायक तौर पर अपनी विजय सुनिश्चित कर लेता है यानी पूंजी का अधिनायकत्व कायम हो जाता है तो क्या फिर भी क्रांति का रणनीतिक नारा जनवादी ही बना रहेगा? देखें भारतीय संविधान के चरित्र बारे सी.एल.आई. का मुखपत्र क्या लिखता है:

"सीमित मताधिकार द्वारा गठित संविधान सभा द्वारा तैयार किए गए भारतीय संविधान का दार्शनिक आधार पूंजीवादी था। अपनी अन्तरात्मा और कलेवर–दोनों में ही यह संविधान शुद्ध पूंजीवादी था। **किसी भी तरह का पूंजीवादी जनवाद अपनी अन्तर्वस्तु में, वास्तविकता में, पूंजीवादी तानाशाही होता है। वह पूंजीपति वर्ग को वास्तविक जनवाद प्रदान करता है और जनता के लिए तानाशाही होता है।"** (लाल तारा-2, दिसम्बर 1983, पृष्ठ 88, रेखांकन जोड़ा गया)

अब देखिए, अगस्त 1947 में सत्ता का हस्तांतरण देश के पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो गया और शासक पूंजीपति वर्ग न अपनी संविधान सभा के जरिए एक शुद्ध पूंजीवादी संविधान का निर्माण कर लिया तथा पूंजीवादी तानाशाही कायम हो गयी लेकिन अभिनव सिन्हा और उनका दल कहता है कि क्रांति का चरण पूंजीवाद विरोधी समाजवादी क्रांति का न होकर जनवादी क्रांति का ही बना रहा! इनकी दलील है कि पंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरण के बाद भी आर्थिक आधार में पूंजीवाद निर्णायक रूप में नहीं आया था। इस प्रकार की दलील मार्क्सवाद विरोधी हैं क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार अधिरचना आसमान से नहीं टपकती बल्कि आर्थिक आधार पर ही खड़ी होती है और किसी वर्ग समाज का चरित्र उसकी राज्यसत्ता से ही निर्णीत होता है। क्या अभिनव सिन्हा किसी अन्य देश का ऐसा उदाहरण दे सकते हैं कि उस देश में पूंजीपति वर्ग के हाथ में निर्णायक रूप से सत्ता हो यानी उसने अपनी एक संविधान सभा के माध्यम से एक शुद्ध पूंजीवादी संविधान का निर्माण कर लिया हो और ऐसा होने के बावजूद भी उस देश में क्रांति का रणनीतिक नारा जनवादी क्रांति का ही रहा हो?

पांचवीं बात यह कि यदि किसी देश में पूंजीवादी अधिनायकत्व स्थापित हो जाए यानी सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में आ जाए और उस देश में पूंजीवादी जनवादी क्रांति क कार्यभार उस देश की अर्थव्यवस्था में प्रबल रूप में बचे रह जाएं तो फिर क्रांति का रणनीतिक नारा क्या हो? लेनिन ने अपने *अप्रैल थीसिस* में इसी बात का जवाब दिया है और अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने इसे व्यावहारिक तौर पर सिद्ध किया है। लेनिन 1919 में लिखते हैं:

''...अक्टूबर 1917 में हमने **पूरे किसान-समुदाय के साथ मिलकर** सत्ता पर अधिकार किया। वह इस अर्थ में पूंजीवादी क्रांति थी कि देहातों में वर्ग संघर्ष अभी तक विकसित नहीं हुआ था। जैसा कि मैं कह चुका हूं, देहातों में असली सर्वहारा क्रांति 1918 की गर्मियों में ही जाकर शुरु हुई। यदि हम इस क्रांति को उभाड़ने में सफल न होते तो हमारा काम अधूरा रह जाता। पहली मंजिल थी शहरों में सत्ता में अधिकार करने और सोवियत ढ़ंग की सरकार की स्थापना की मंजिल। दूसरी मंजिल वह थी, जिसका सभी समाजवादियों के लिए बुनियादी महत्व है और जिसे समझे बिना समाजवादी समाजवादी नहीं हैं, अर्थात् देहातों में सर्वहारा तथा अर्द्ध-सर्वहारा अंशकों को छांटकर उन्हें देहाती पूंजीपति वर्ग के खिलाफ संघर्ष चलाने के लिए शहरी सर्वहारा वर्ग के साथ एकबद्ध कर देने की मंजिल।...'' (रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की आठवीं कांग्रेस, 18-23 मार्च 1919, देहातों में काम की बाबत रिपोर्ट, 23 मार्च, शब्दों पर जोर लेनिन का)

लेनिन ने कहा कि 'अक्तूबर 1917 में हमने समस्त किसान समुदाय के साथ मिलकर सत्ता पर अधिकार किया', जबकि सत्ता सर्वहारा वर्ग और गरीब किसानों के संश्रय पर आधारित थी न कि समस्त किसानों के। समस्त किसानों ने अक्तूबर क्रांति का साथ इसलिए दिया कि अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने पहला काम पूंजीवादी जनवादी क्रांति को उसके अंजाम तक पहुंचाने का किया। लेनिन ने अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर दिए अपने भाषण में स्पष्ट कहा कि:

"25 अक्तूबर (7 नवंबर) की चौथी सालगिरह निकट आ रही है।...रूस में क्रांति का तात्कालिक तथा प्रत्यक्ष लक्ष्य पूंजीवादी-जनवादी लक्ष्य था, अर्थात् मध्ययुगीनता के अवशेषों को नष्ट करना और उनका नाम-निशान तक मिटा देना,"

लेकिन अभिनव सिन्हा के लिए यह बात कि राज्य समाजवादी हो और क्रांति जनवादी करे, चौंकाने वाली है। पर 'पूरे किसान समुदाय के साथ मिलकर' वाक्यांश को लेनिन ने जोरदार शब्दों में कहा है और साथ में यह भी कहा कि रूस में समाजवादी क्रांति का तात्कालिक तथा प्रत्यक्ष लक्ष्य पूंजीवादी-जनवादी लक्ष्य था। यानी अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने पूंजीवादी जनवादी क्रांति को समस्त किसानों के साथ मिलकर उसके अंजाम तक पहुंचाया था जिसे फरवरी क्रांति के जरिए सत्तारूढ़ हुए रूसी पूंजीपति वर्ग ने अधूरा ही छोड़ दिया था।

लेनिन ने कहा है कि राजनीति वर्ग संघर्ष है। और सर्वहारा के वर्ग संघर्ष की दिशा और लक्ष्य इस बात से तय होता है कि उसे किस वर्ग की सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करना और लड़ना है। सत्ता पर काबिज यदि सामंती वर्ग है या औपनिवेशिक वर्ग है तो सर्वहारा का राजनीतिक संघर्ष सामंती या औपनिवेशिक सत्ता का तख्ता पलट करने का होगा। यानी जनवाद के लिए होगा। पर यदि सत्ता पूंजीपति वर्ग की हो तो फिर सर्वहारा का राजनीतिक संघर्ष किस सत्ता के विरुद्ध लक्षित होगा? जाहिर है कि पूंजीपति वर्ग की सत्ता के विरुद्ध ही होगा और उस संघर्ष की परिणिति भी पूंजीपति वर्ग की सत्ता के तख्तापल्ट और सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना के साथ होगी। अब एक सवाल यह रह जाता है कि यदि पूंजीपति वर्ग की सत्ता समझौते के जरिए कायम हो जाए और बुर्जुआ-जनवादी क्रांति अधूरी रह जाए तब सर्वहारा क्या रास्ता अपनाये? यह रास्ता वही होगा जो लेनिन ने फरवरी क्रांति के बाद दिखाया और अक्तूबर क्रांति ने उसे व्यवहार में सिद्ध किया। अक्तूबर क्रांति के जरिए सर्वहारा और गरीब किसानों का अधिनायकत्व कायम हुआ और समस्त किसानों ने इस

अधिनायकत्व के साथ सहयोग किया क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व ने अधूरी रह गई बुर्जुआ जनवादी क्रांति को अंजाम तक पहुंचाया। 40 करोड़ एकड़ जमीन को सामंतों और मठाधीशों आदि के कब्जे से जब्त किया और किसानों के हवाले कर दिया। यदि भारत में भी बोल्शेविक पार्टी जैसी कोई पार्टी होती तो पूंजीपति वर्ग के पैर जमने से पहले ही उसे उखाड़ फेंक देती और वह क्रांति समाजवादी क्रांति कहलाती क्योंकि पूंजीपति वर्ग की सत्ता का तख्ता पलट कर देना समाजवादी क्रांति ही होती है, नव-जनवादी नहीं। और इस प्रकार स्थापित होने वाला सर्वहारा अधिनायकत्व, बुर्जुआ जनवादी क्रांति को उसके अंजाम तक पहुंचाता और समाजवाद की ओर कदम बढ़ाता जैसा कि अक्तूबर क्रांति के जरिए लेनिन के नेतृत्व में रूस में हुआ था।

कलायत बहस की वीडियो के न दिए जाने की बकवास बारे

पाठक साथियो! कलायत बहस अभिनव सिन्हा और हमारे संगठन के बीच में सन् 2012 में हुई थी। दोनों पक्षों के चुनिंदा साथियों ने एक दिवसीय उस बहस में भाग लिया था। जोकि भाषणों के जरिए हुई थी। उन भाषणों का वीडियो कॉमरेड सुजय (जो उस वक्त जन संघर्ष मंच हरियाणा से जुड़कर कार्य कर रहे थे) ने अपने कैमरे से रिकॉड किया था, जो कि उस कैमरे की हार्ड डिस्क खराब हो जाने के कारण वीडियो निकल नहीं पाई थी और बाद में जब वह वीडियो किसी एक्सपर्ट से कॉमरेड सुजय निकलवाने में कामयाब हुए तो उसकी एक कॉपो साथी सुजय ने हमारे साथी सुरेश को दी थी। और 'बिगुल मजदूर दस्ता' द्वारा वीडियो की मांग किए जाने पर जन संघर्ष मंच हरियाणा के साथी सुरेश ने 'बिगुल' के साथी रमेश चौसाला को वह वीडियो कुरुक्षेत्र नए बस अड्डे के सामने उपलब्ध करा दी थी और इस तथ्य को हमने कलायत बहस के हमारे दूसरे दस्तावेज़ (दिनांकित 18.10.2012) में लिख भी दिया था। उसके बाद यानी सन् 2012 से लेकर सन् 2018 तक के लम्बे अन्तराल में 'बिगुल' वालों ने वीडियो की न तो कोई मांग की और न ही इस सम्बन्ध में कोई सवाल उठाया। और अब अचानक छह साल बाद इन्हें वह वीडियो याद आया। पाठक साथी, विचार कर सकते हैं कि यदि हमने इन्हें वीडियो न दिया होता तो क्या हम अपनी बहस के दूसरे दस्तावेज़ में यह तथ्य लिख सकते थे कि वीडियो दे दिया गया है। और क्या ये 'बिगुल' वाले हमारे दूसरे दस्तावेज़ को पढ़ने के बाद तुरंत हो-हल्ला न मचा देते कि हमने वीडियो दे दिए जाने की बात झूठ लिख दी है? और यदि हमने वीडियो दे दिए जाने की बात अपने दूसरे दस्तावेज़ में झूठ ही लिख दी थी तो क्या अभिनव सिन्हा अपने इस 65 पृष्ठीय दस्तावेज़ इस बात को न उठाते कि जन संघर्ष मंच हरियाणा वालो ने रिकार्ड पर झूठ बोला है? पाठक साथियो, वीडियो हम इन्हें आज दोबारा भी दे सकते थे लेकिन आज वह वीडियो हमारे पास भी नहीं है। वीडियो हमारे साथो सुरेश के लैपटॉप में थी और वह लैपटॉप 29मार्च 2016 को सड़क पर खड़ी उनकी कार से चोरी हो गया जिसकी पुलिस रिपोर्ट उसी तिथि में थाना शहर थानेसर में दर्ज है। चोरी हुआ लैपटॉप मिल नहीं पाया है।

दूसरा आरोप हम पर अभिनव सिन्हा ने यह लगाया है कि हमन कलायत बहस के अपने दस्तावेज़ों को सार्वजनिक नहीं किया है। पर हमारे दोनों दस्तावेज़ तो इनके पास भी बहस के दौरान भेज दिए गए थे। फिर इनके सामने उन्हें सार्वजनिक करने की क्या कठिनाई थी? 'बिगुल मजदूर दस्ता' के खुद के कार्यकर्त्ताओं को भी 'बिगुल' नेतृत्व ने वे दस्तावेज़ उपलब्ध क्यों नहीं कराए? 'बिगुल मजदूर दस्ता' दस्ता के सक्रिय कार्यकर्ता साथी अजय ने 2016 में खुद हमारे से 'बिगुल' वालों के और हमारे चारों दस्तावेजों की मांग की थी और

हमने ईमेल के जरिए उन्हें चारों दस्तावेज़ 20 अक्तूबर 2016 को भेजे थे। इसक इलावा कई अन्य संगठन के साथियों ने भी हमारे से कलायत बहस के दस्तावेजों की मांग की थी और हमने उनको उपलब्ध कराएं हैं। इसलिए अभिनव सिन्हा द्वारा हम पर लगाया गया यह आरोप कि हम कलायत बहस के अपने दस्तावेजों को दबाकर बैठे हैं, कोरी बकवास है।

सारांश में, हम कहेंगें कि अभिनव सिन्हा और उनकी शोध टीम ने जाति व्यवस्था के उद्भव, विकास और उसके खात्मे के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाया है वह न तो ऐतिहासिक भौतिकवादी है और न ही द्वन्द्ववादी। एक तरफ तो ये कहते हैं कि जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आथिक संरचना है और दूसरी ओर कहते हैं कि यह कभी कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति ही नहीं रही; एक तरफ कहते हैं कि आनुवांशिक श्रम विभाजन इसका एक आयाम है दूसरी तरफ कहते हैं कि यह कोई उत्पादन प्रणाली ही नहीं रही; एक तरफ कहते हैं कि जाति वर्ग नहीं दूसरी तरफ जाति व्यवस्था की विचारधारा की बात करते हैं, जबकि मार्क्सवाद के अनुसार विचारधारा केवल वर्ग विचारधारा हो सकती है। एक तरफ कहते हैं कि जाति व्यवस्था स्वयं कोई उत्पादन पद्धति नहीं रही दूसरी तरफ कहते हैं कि जाति व्यवस्था विभिन्न उत्पादन पद्धतियों के आर्थिक आधार को उत्पादन सम्बन्ध मुहैया कराती आई है; एक तरफ तो कहते हैं कि जाति व्यवस्था एक सामाजिक आर्थिक संरचना है दूसरी तरफ इसके तीन आयाम बताते हैं जबकि द्वन्द्ववाद के अनुसार किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना का अपना एक विशिष्ट प्रधान अन्तरविरोध होता है। एक तरफ अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के इस ककहरे को भी नहीं जानते कि हर चीज अपने निषेध के जरिए अपने विपरीत में बदलती है और समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत होता है, दूसरी तरफ अपने को द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण के चैम्पियन मानते हैं और दावा करते हैं कि इन्होंने जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास का द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। एक तरफ इन्हें निषेध का निषेध नियम के तीन चरणों यानी वाद, प्रतिवाद और संवाद की अवधारणाएं भी स्पष्ट नहीं हैं दूसरी तरफ जाति व्यवस्था के परिवर्तन को निषेध का निषेध नियम द्वारा व्याख्यायित करने का दावा करते है। इस प्रकार की सारी बातें यह सिद्ध कर देती हैं कि अभिनव सिन्हा और उनके दल का दृष्टिकोण बिल्कुल द्वन्द्ववादी भौतिकवादी नहीं है और 'मज़दूर बिगुल' सम्पादक अभिनव सिन्हा का 65-पृष्ठीय दस्तावेज़ द्वन्द्ववाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद के मूलभूत सिद्धांतों के खिलाफ कोरी लपफ़ाजो का पुलिंदा है। अभिनव सिन्हा इस भ्रम के भी शिकार हैं कि उनकी भाषा और लेखन शैली, 'लेनिनीय शैली' है। पर इन्हें मालूम नहीं कि लेनिन की शैली कोई खोखली शैली मात्र नहीं थी, वह शैली ऐतिहासिक भौतिकवादी एवं द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण पर आधारित उनके गहन ज्ञान से मेल खाने वाली थी जिसे वे अपने विरोधियों की आलोचना के लिए इस्तेमाल करते थे। मात्र खोखले गाली-गलौच को 'लेनिनीय शैली' मान लेना स्वयं को ही भ्रम में रखना है।

श्यामसुन्दर, संयोजक शहीद भगत सिंह दिशा मंच व सलाहाकार जन संघर्ष मंच हरियाणा द्वारा लिखित

(8 नवम्बर 2018)